।। श्रीहरिः ।।

432

एकै साधे सब सधै

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

एकै साधै सब सधै

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी वाणीसे निस्सृत सात उपदेशोंका संग्रह है, जो समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुके हैं, इन उपदेशोंमें साधनाके गूढ़ रहस्योंका बड़े ही मार्मिक, सरल एवं रोचक ढंगसे उद्घाटन किया गया है। कहना न होगा कि इन उपदेशोंमें जो कुछ है, वह भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके दीर्घकालीन मन्थनका परिणाम है, जिसपर स्वामीजीके साधनामय एवं तपःपूत जीवनके अनुभवोंका पुट लगा हुआ है। इसीसे यह पुस्तक साधकोंके लिये तथा उन लोगोंके लिये जो साधन-मार्गमें अग्रसर होना चाहिते हैं, बड़े कामकी वस्तु बन गयी है। इन उपदेशोंमें प्रायः उन सभी प्रश्नोंका उचित समाधान कर दिया गया है, जो एक साधकके जीवनमें स्वाभाविकरूपसे उठते हैं।

इनमें क्रमशः निम्नलिखित विषयोंपर प्रकाश डाला गया है— (१) दृढ़ भावसे लाभ, (२) भक्तिकी सुलभता, (३) गीताका ज्ञेय-तत्त्व, (४) भगवत्प्राप्तिसे ही मानव-जीवनकी सार्थकता, (५) अखण्ड-साधन, (६) सबका कल्याण कैसे हो, (७) उपासना शब्दका अर्थ एवं उसका स्वरूप। ये सभी विषय ऐसे हैं, जिनपर प्रकाश प्राप्त करना साधकके लिये परम उपयोगी है। भावकी दृढ़ता हुए बिना किसी भी साधनमें तत्परता नहीं आयेगी। साधनाके गीतादि ग्रन्थोंमें चार प्रधान मार्ग बताये गये हैं—ज्ञानयोग अथवा सांख्ययोग, भक्तियोग, कर्मयोग एवं ध्यानयोग। इन सभी मार्गोंमें भक्ति सबमें सुगम है, ज्ञानमार्गपर चलनेवालोंके लिये यह जान लेना परम आवश्यक है कि जिस वस्तुका ज्ञान वह प्राप्त करना चाहता है, उसका स्वरूप क्या है। उपर्युक्त चारों साधनमार्गोंका लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त करना ही है। अन्यथा उनकी 'योग' संज्ञा नहीं होगी और भगवत्प्राप्तिके लिये ही यह मनुष्य-शरीर

हमें मिला है, अन्यथा जीनेको तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग—सभी जीते हैं। साधन जबतक अखण्ड नहीं होगा—बीच-बीचमें उसका तार टूटता रहेगा, तबतक उसमें सफलताकी आशा करना दुरासामात्र होगी। यद्यपि सभी साधन अधिकारिभेदसे उपयोगी हैं, फिर भी साधकके मनमें यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि सबके लिये कल्याणकारी उपाय क्या है। उपासना-मार्गपर चलनेवालोंके लिये 'उपासना' का अर्थ एवं स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार यह छोटी-सी पुस्तक साधकोंके लिये बहुत ही उपकारक बन गयी है। आशा है, कल्याणकामी लोग इससे समुचित लाभ उठाकर अपने जीवनको सार्थक करेंगे।

निवेदन—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

❑ ❑

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

❑ ❑

॥ श्रीहरिः ॥

दृढ़ भावसे लाभ

कहावत है कि 'जिस गाँवमें नहीं जाना है, उसका रास्ता ही क्यों पूछा जाय?' ऐसा दृढ़ भाव हो जाय कि 'अपनी उम्रमें अमुक काम हमें नहीं ही करना है' तो वह कार्य हो ही कैसे सकता है? जैसे सिनेमा नहीं देखना है, तो नहीं ही देखना है। बीड़ी-सिगरेट आदि व्यसन नहीं करना है, तो नहीं ही करना है। चाय आजसे नहीं पीना है, तो नहीं ही पीना है। समाप्त हुआ काम। अब झूठ नहीं बोलना है, तो झूठ बोलेंगे ही क्यों? फिर झूठ निकल ही नहीं सकता। ऐसे ही प्रत्येक सद्‌गुण-सदाचारके ग्रहण और दुर्गुण-दुराचारके त्यागके लिये दृढ़ भाव बना लिया जाय तो यह भाव बहुत जल्दी बन सकता है और फिर वह अनायास ही आचरणमें भी आ सकता है।

इसके लिये एक बहुत उपयोगी बात यह है कि हम अपनेको दृढ़प्रतिज्ञ बनावें। अर्थात् हर् एक व्यवहारमें जो विचार कर लें, बस वैसा ही करें—यों करनेपर विचारोंकी एक परिपक्वता हो जाती है, फिर संकल्प दृढ़ हो जाता है। इसी प्रकार जबानसे कह दें तो फिर वैसा ही करनेकी चेष्टा करें। बहुत ज्यादा दृढ़तासे कहें तो उसके पालनकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करें। मर भले ही जायँ, पर अब तो करेंगे ऐसे ही। छोटे-छोटे कामोंमें इस प्रकार दृढ़प्रतिज्ञताका स्वभाव बनानेकी चेष्टा करें तो हमारा स्वभाव

सुधर जाता है। स्वभाव सुधरनेपर फिर बड़ी-से-बड़ी बातें भी जो विचार कर लें, वे धारण हो जाती हैं। यह भाव-निर्माण तथा भाव-धारण-साधन बहुत सुगम है और बहुत ही श्रेष्ठ है।

सेनामें लोग भरती होते हैं तब अपना नाम लिखा लेते हैं और समझते हैं कि 'हम तो सिपाही हो गये।' ऐसा भाव होनेपर मनमें स्वयं जिज्ञासा पैदा होती है कि सिपाहीको क्या करना चाहिये। ऐसी जिज्ञासा होनेपर उनको शिक्षा दी जाती है और वह शिक्षा उनके धारण हो जाती है। ऐसे ही साधन करनेके लिये वैरागी पुरुष साधु बनता है, उसके मनमें आता है कि 'मैं साधु बन गया' तो 'साधुको क्या करना चाहिये'—यह स्वयं उसके मनमें जिज्ञासा होती है। उसके बाद जब यह बताया गया कि साधुका यह आचरण है, साधुको ऐसे बोलना, ऐसे उठना चाहिये, ऐसा आचरण करना चाहिये, यह व्यवहार करना चाहिये तो यह साधुताकी बात वह पकड़ लेता है; क्योंकि वह समझता है कि 'मैं साधु हूँ, अतः मुझे अब साधुके अनुसार चलना ही है।' ऐसे ही अपने-आपको साधक मान ले कि मैं तो भजन-ध्यान-साधन करनेवाला साधक हूँ। जहाँ प्रवचनोंमें, ग्रन्थोंमें यह बात आयेगी कि 'साधकके लिये यों करना उचित है, साधकमें चंचलता नहीं चाहिये, उसे व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिये, हर समय भगवत्-भजन, ध्यानादि करना चाहिये, कुसंगका त्याग करना चाहिये, सत्संग और स्वाध्याय करना चाहिये, आदि'—इस प्रकार साधकके लिये जो कर्तव्य बतलाये जायँगे, उन कर्तव्योंको वह अपनेमें लानेकी स्वतः ही विशेष चेष्टा करेगा; क्योंकि वह अपने-आपको साधक मानता है। अतः साधकके लिये जो बातें आवश्यक हैं वे

उसमें आ जायँगी, धारण हो जायँगी; पर जो मनुष्य अपनेको साधक नहीं मानेगा, वह कोई बात चाहे सत्संगमें सुने, व्याख्यानमें सुने या ग्रन्थोंमें पढ़े, उसके हृदयमें वह विशेषतासे धारण नहीं होगी और न उन बातोंके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध ही होगा।

बहुत-से भाई-बहिन साधन करते हैं, जप-पाठ आदि नित्य-नियम करते हैं, परंतु नित्य-नियमके साथ समझते हैं कि यह तो घंटे-डेढ़-घंटे करनेका काम है। शेष समयमें समझते हैं कि हम तो गृहस्थ हैं, हमें अमुक-अमुक काम करने हैं, हम अमुक घरके, अमुक जातिके, अमुक वर्णाश्रमके हैं। घंटे-डेढ़-घंटे भगवान्‌का भजन कर लेना है, गीतापाठ कर लेना है, कीर्तन कर लेना है। सत्संग प्रतिदिन मिल गया तो प्रतिदिन कर लिया। बारह महीनेसे मिल गया तो बारह महीनेसे कर लिया। सत्संग कर लिया, एक पारी निकल गयी। ऐसा भाव रहता है। इसलिये विशेष सुधार नहीं होता, वह उस सत्संगको ग्राह्य-दृष्टिसे नहीं देखता। ग्राह्य-दृष्टिसे देखने और साधारण कुतूहलनिवृत्ति-दृष्टिसे देखनेमें बड़ा अन्तर है। हम सत्संगको कुतूहलनिवृत्ति या मन बहलानेकी तरह सुनते हैं। अतः धारण नहीं होता। इसलिये हमें सत्संगको—साधनको ग्राह्य-दृष्टिसे देखना चाहिये और ऐसा भाव रखना चाहिये कि हमें तो निरन्तर भगवान्‌का भजन-ध्यान ही करना है। जो कुछ कार्य करना है वह भी केवल भगवान्‌का ही और भगवान्‌के लिये ही करना है। इस दृष्टिसे भगवान्‌के नाते ही सब काम किये जायँ तो उससे महान् लाभ हो सकता है।

❑❑

भक्तिकी सुलभता

विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आजके मनुष्यका जीवन स्वकीय शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके परित्यागके कारण विलासयुक्त होनेसे अत्यधिक खर्चीला हो गया है। जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुओंका मूल्य अधिक बढ़ गया है। व्यापार तथा नौकरी आदिके द्वारा उपार्जन बहुत कम होता है। इन कारणोंसे मनुष्योंको परमार्थ-साधनके लिये समयका मिलना बहुत ही कठिन हो रहा है और साथ-ही-साथ केवल भौतिक उद्देश्य हो जानेके कारण जीवन भी अनेक चिन्ताओंसे घिरकर दुःखमय हो गया है। ऐसी अवस्थामें कृपालु ऋषि-मुनि एवं संत-महात्माओंद्वारा त्रिताप-संतप्त प्राणियोंको शीतलता तथा शान्तिकी प्राप्ति करानेके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, अष्टांगयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग आदि अनेक साधन कहे गये हैं और वे सभी साधन वास्तवमें यथाधिकार मनुष्योंको परमात्माकी प्राप्ति कराकर परम शान्ति प्रदान करनेवाले हैं। परंतु इस समय कलि-मलग्रसित विषय-वारि-मनोमीन प्राणियोंके लिये—जो अल्प आयु, अल्प शक्ति तथा अल्प बुद्धिवाले हैं—परम शान्ति तथा परमानन्दप्राप्तिका अत्यन्त सुलभ तथा महत्त्वपूर्ण साधन एकमात्र भक्ति ही है। उस भक्तिका स्वरूप प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का स्मरण ही है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भक्तिके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीकपिलदेवजी अपनी मातासे कहते हैं—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

(३।२९।११—१४)

अर्थात् जिस प्रकार गंगाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम और अनन्य प्रेम होना—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है। ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी मेरे भजनको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षतक नहीं लेते। भगवत्सेवाके लिये मुक्तिका भी तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको—मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार श्रीमधुसूदनाचार्यने भी भक्तिरसायनमें लिखा है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् भागवत-धर्मोंका सेवन करनेसे द्रवित हुए चित्तकी भगवान् सर्वेश्वरके प्रति जो तैलधारावत् अविच्छिन्न वृत्ति है, उसीको भक्ति कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणोंसे सिद्ध होता है कि अनन्य भावयुक्त भगवत्स्मृति ही भगवद्भक्ति है।

भगवद्वचनामृतस्वरूप परम गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनद्वारा किये हुए सात प्रश्नोंमेंसे अन्तिम प्रश्न यह है कि 'हे भगवन्! आप अन्त समयमें जाननेमें कैसे आते हैं? अर्थात् मृत्युकालमें आप प्राणियोंद्वारा कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं?' इसका उत्तर देते हुए उसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा गया है कि 'अन्तकालमें भी जो केवल मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होता है। अतः हे अर्जुन! तू सभी समयोंमें मेरा ही स्मरण कर तथा युद्ध (कर्तव्य-कर्म) भी कर। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको लगाये हुए तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा (गीता ८।७)।' ऐसे ही सगुण-निराकार परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें भगवान् कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता ८।८)

अर्थात् हे पृथानन्दन! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ प्राणी परमप्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है। फिर आगेके श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

(गीता ८।९)

अर्थात् जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियामक, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप एवं अविद्यासे अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको स्मरण करता है, वह परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।

इसी अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें उस परब्रह्मकी प्रशंसा तथा बतलानेकी प्रतिज्ञा करके बारहवें श्लोकमें उस परमात्माकी प्राप्तिकी विधि बतलाते हुए आगेके श्लोकमें कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

अर्थात् 'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और (उसके अर्थस्वरूप) मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।'

इसी प्रकार भगवान्ने सगुण-स्वरूप तथा निर्गुण-स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके उपाय बतलाये, परंतु दोनों साधनोंमें योगके अभ्यासकी अपेक्षा होनेके कारण साधनमें कठिनता है, अतः अब आगे अपनी प्राप्तिकी सुलभता बताते हुए भगवान् अपने प्रिय सखा कुन्तीनन्दन अर्जुनके प्रति कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पृथापुत्र अर्जुन! जो मनुष्य नित्य-निरन्तर अनन्य चित्तसे मुझ परमेश्वरका स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे

हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ—वह सुगमतापूर्वक मुझे पा सकता है।'

अब आप देखेंगे कि गीताभरमें 'सुलभ' पद केवल इसी स्थानपर इसी श्लोकमें आया है। इस सौलभ्यका एकमात्र कारण अनन्य भावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण ही है। आप कह सकते हैं कि जो प्रभु अपने स्मरणमात्रसे इतने सुलभ हैं, उनका स्मरण बिना उनके स्वरूप-ज्ञानके क्योंकर किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि आजतक आपने भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें जैसा कुछ शास्त्रोंमें पढ़ा, सुना और समझा है, तदनुरूप ही उस भगवत्स्वरूपमें अटल श्रद्धा रखते हुए भगवान्‌के शरण होकर उनके महामहिमशाली परमपावन नामके जपमें तथा उनके मंगलमय दिव्य स्वरूपके चिन्तनमें आपको तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये और यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि उनके स्वरूपविषयक हमारी जानकारीमें जो कुछ भी त्रुटि है, उसे वे करुणामय परमहितैषी प्रभु अवश्य ही अपना सम्यग्ज्ञान देकर पूर्ण कर देंगे, जैसा कि भगवान्‌ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।११)

'हे पृथापुत्र! उनके ऊपर अनुकम्पा करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इस प्रकार प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेसे वे परमप्रभु हमारे योग-क्षेम अर्थात् अप्राप्तकी प्राप्ति तथा प्राप्तकी रक्षा स्वयं करते हैं।

भजन उसीको कहते हैं, जिसमें भगवान्‌का सेवन हो तथा सेवन भी वही श्रेष्ठ है, जो प्रेमपूर्वक मनसे किया जाय। मनसे प्रभुका सेवन तभी समुचितरूपसे प्रेमपूर्वक होना सम्भव है, जब हमारा उनके साथ घनिष्ठ अपनापन हो और प्रभुसे हमारा अपनापन तभी हो सकता है, जब संसारके अन्य पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध और अपनापन न हो।

वास्तवमें विचार करके देखें तो यहाँ प्रभुके सिवा अन्य कोई अपना है भी नहीं; क्योंकि प्रभुके अतिरिक्त अन्य जितनी भी प्राकृत वस्तुएँ हमारे देखने, सुनने एवं समझनेमें आती हैं, वे सभी निरन्तर हमारा परित्याग करती जा रही हैं अर्थात् नष्ट होती जा रही हैं।

इसीलिये संत कबीरजी महाराज कहते हैं—

दिन दिन छाँड्या जात है तासों किसा सनेह।
कह कबीर डहक्या बहुत गुणमय गंदी देह॥

अतः अन्य किसीको भी अपना न समझकर केवल प्रभुका प्रेमपूर्वक अनन्य भावसे स्मरण करना ही उनकी प्राप्तिका महत्त्वपूर्ण तथा सुलभ साधन है।

इस अनन्य भावको प्राप्त करनेके लिये यह समझनेकी परम आवश्यकता है कि यह जीवात्मा परमात्मा और प्रकृतिके मध्यमें है और जबतक इसकी उन्मुखता प्रकृतिके कार्यस्वरूप बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्राण, शरीर तथा तत्सम्बन्धी धन, जन आदिकी ओर रहती है, तबतक यह प्राणी अन्यका आश्रय छोड़कर केवल परमात्माका आश्रय नहीं ले सकता। अतः मेरा कोई नहीं है तथा मैं सेवा करनेके लिये समस्त संसारका होते हुए भी वास्तवमें एक परमात्माके सिवा अन्य किसीका नहीं

उसे भगवान् सुलभ हो जायँ—इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता; जैसा कि श्रीभगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे अर्जुनके प्रति कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।६-७)

'जो मेरे ही परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे पार्थ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

❑ ❑

गीताका ज्ञेय-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार ज्ञेयका अर्थ परब्रह्म परमात्मा है। विचार करनेपर प्रतीत होता है कि ज्ञेय उसे कहते हैं जो जाना जा सके, जानने योग्य हो अथवा जिसे जानना आवश्यक हो। इन तीनोंमें प्रथम जाना जा सकनेवाला ज्ञेय है संसार; क्योंकि यह नश्वर जगत् ही इन्द्रियोंके द्वारा या अन्तःकरणके द्वारा जाना जाता है तथा जिन साधनोंसे हम संसारको जानते हैं, वे साधन भी वास्तवमें इस ज्ञेय संसारके ही अन्तर्गत हैं। इस संसारका जानना भी उपयोगी है, पर वह जानना है उसके त्यागके लिये अर्थात् यह संसार ज्ञेय होते हुए भी त्याज्य है। वस्तुतः ज्ञेय एकमात्र परमात्मा ही हैं। इसे गीताने स्पष्ट कहा है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (१५। १५)

वेद्यं पवित्रम्— (९। १७)

तेरहवें अध्यायमें श्रीभगवान्ने ज्ञानके बीस साधनोंका नाम 'ज्ञान' बताकर उन साधनोंसे जिसका ज्ञान होता है, वह ज्ञेय-तत्त्व परमात्मा है—यह बात स्पष्ट कही है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३। १२)

इस श्लोकके पहले चरणमें वे ज्ञेय-तत्त्वको बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं, दूसरे चरणमें उसके जाननेका फल अमृतकी प्राप्ति बतलाते हैं, तीसरे चरणमें उसका नाम लक्षणके साथ बतलाते हैं और चौथे चरणमें उस ज्ञेय-तत्त्वकी अलौकिकताका कथन करते हैं कि वह न सत् कहा जा सकता है न असत्!

इस प्रकार इस श्लोकके द्वारा परमात्माके निर्गुण-निराकार रूपका वर्णन करते हैं। अगले श्लोकमें परमात्माके सगुण-निराकार रूपका वर्णन करते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३।१३)

'सब जगह उनके हाथ-पैर हैं, सब जगह उनकी आँखें, सिर और मुँह हैं और सब जगह वे कानवाले हैं तथा सबको घेरकर वे स्थित हैं।' जैसे सोनेके ढेलेमें सब जगह सब गहने हैं, जैसे रंगमें सब चित्र होते हैं, जैसे स्याहीमें सब लिपियाँ होती हैं, जैसे बिजलीके एक होनेपर भी उससे होनेवाले विभिन्न कार्य यन्त्रोंकी विभिन्नतासे विभिन्न रूप धारण करते हैं—एक ही बिजली बर्फ जमाती है, अँगीठी जलाती है, लिफ्टको चढ़ाती-उतारती है, ट्राम तथा रेलको चलाती है, शब्दको प्रसारित करती तथा रेकार्डमें भर देती है, पंखा चलाती है तथा प्रकाश करती है—इस प्रकार उससे अनेकों परस्पर विरुद्ध और विचित्र कार्य होते देखे जाते हैं। इसी प्रकार संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि अनेक परस्पर विरुद्ध और विचित्र कर्म एक ही परमात्मासे होते हैं; पर वे परमेश्वर एक ही हैं—इस तत्त्वको न समझनेके कारण ही लोग कहते हैं कि जब परमात्मा एक है, तब संसारमें कोई सुखी और कोई दुःखी क्यों है? उन्हें पता नहीं कि जो ब्रह्म निर्गुण, निराकार तथा मन-वाणी और बुद्धिका अविषय है, वही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला सगुण-निराकार परमेश्वर है। इनकी एकताका प्रतिपादन करते हुए ही गीता कहती है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

(१३। १४)

'सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होते हुए भी वे सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य करते हैं और आसक्तिरहित होते हुए भी सबका धारण-पोषण करते हैं। सर्वथा निर्गुण होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।' तथा—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३। १५)

वे सब प्राणियोंके बाहर-भीतर हैं और चर-अचर प्राणिमात्र भी वे ही हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वे अविज्ञेय हैं; क्योंकि वे '**अणोरणीयान्**'—अणुसे भी अणु हैं। जाननेमें आनेवाले जड पदार्थोंकी अपेक्षा उनका ज्ञान सूक्ष्म है और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता अत्यधिक सूक्ष्म है। फिर वह जाननेमें कैसे आ सकता है? श्रुति भी कहती है—

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्?'

उसीकी चित्-शक्तिसे बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको जाननेमें समर्थ होती हैं। वह ज्ञेय-तत्त्व दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है। देशकी दृष्टिसे देखनेपर पृथ्वीसे समीप शरीर, शरीरसे समीप प्राण, प्राणसे समीप इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे समीप मन, मनसे समीप बुद्धि, बुद्धिसे समीप जीवात्मा तथा उसका भी प्रेरक और प्रकाशक सर्वव्यापी परमात्मा है और दूर देखनेपर शरीरसे दूर पृथ्वी, पृथ्वीसे दूर जल, जलसे दूर तेज, तेजसे दूर वायु, वायुसे दूर आकाश, आकाशसे दूर समष्टि मन, मनसे दूर महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे दूर परमात्माकी

प्रकृति तथा प्रकृतिसे अति दूर स्वयं परमात्मा है। अतः देशकी दृष्टिसे परमात्मा दूर-से-दूर है। इसी प्रकार कालकी दृष्टिसे परमात्मा दूर-से-दूर तथा समीप-से-समीप है। वर्तमान कालमें तो वह परमात्मा है; क्योंकि जड वस्तुमात्र प्रत्येक क्षण नाशको प्राप्त हो रही है; अतएव उनकी तो सत्ता है ही नहीं। यदि सत्ता मानें भी तो उससे भी समीप वह सत्य-सत्त्व है और भूतकालकी ओर देखें तो दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, कल्प, परार्ध, ब्रह्माकी आयु तथा उससे भी पूर्व—

'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**'

वे सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे शून्य सत्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही थे तथा भविष्यमें भी उसी प्रकार क्षण, पल, दण्ड, घड़ी, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, कल्प, परार्ध तथा ब्रह्माकी आयुके बाद भी वे ही परमात्मा रहेंगे—'**शिष्यते शेषसंज्ञः।**' अतएव दूर-से-दूर भी वही तत्त्व विद्यमान है।

जिस ज्ञानके अन्तर्गत देश-काल-वस्तुकी प्रतीति होती है, वह चित्स्वरूप ज्ञान ही है तथा उसके अन्तर्गत आनेवाले देश-काल-वस्तुमात्र क्षणभर भी स्थिर न रहकर केवल परिवर्तनशील प्रतीत होते हैं। परिवर्तनशीलतामें वस्तु न होकर केवल क्रिया है और वह क्रिया भी केवल प्रतीत होती है, वस्तुतः वहाँ क्रिया भी न टिककर केवल ज्ञानमात्र ही है। वह ज्ञान चिन्मात्र है, ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। वही अवश्य जानने योग्य वस्तु है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

उसके जान लेनेके बाद ज्ञात-ज्ञातव्य, प्राप्त-प्राप्तव्य होकर

कृतकृत्यता हो जाती है, अर्थात् न कुछ जानना बाकी रह जाता है और न पाना बाकी रहता है, न करना ही बाकी रहता है। वह ज्ञेय-तत्त्व—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

(गीता १३।१६)

—अनेक आकारोंके विभक्त प्राणियोंमें अविभक्त है अर्थात् विभागरहित एक ही तत्त्व विभक्तकी तरह प्रतीत होता है। अनेक व्यक्तियोंमें सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेवाला एक ही तत्त्व विद्यमान है। वही जगत्की उत्पत्ति करनेवाला होनेके कारण ब्रह्मा कहलाता है, पालन करनेवाला होनेके कारण विष्णु कहलाता है और संहार करनेवाला होनेके कारण महादेवरूपसे विराजमान है।

'**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः**' वह ज्योतियोंका भी ज्योतिःस्वरूप है। अर्थात् जैसे घट-पट आदि भौतिक पदार्थोंका प्रकाशक सूर्य है तथा वह सूर्य घट-पट आदिके भाव और अभाव दोनोंको प्रकाशित करता है, जैसे सूर्यके प्रकाश-अप्रकाशको निर्विकाररूपसे नेत्र प्रकाशित करता है, नेत्रके देखनेकी क्रिया तथा नेत्रकी ठीक-बेठीक अवस्थाको एकरूप रहता हुआ मन प्रकाशित करता है, मनकी शुद्धाशुद्ध अनेक विकारयुक्त क्रियाको बुद्धि निर्विकाररूपसे प्रकाशित करती है तथा बुद्धिके भी ठीक-बेठीक कार्यको आत्मा प्रकाशित करता है, उसी प्रकार समष्टि-सृष्टि, उसकी नाना क्रियाओं तथा अक्रिय अवस्थाओंको शुद्ध चेतनरूप परमात्मा प्रकाशित करता है। अतः वह ज्योतियोंका भी ज्योति है तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे अत्यन्त भिन्न है। वह केवल ज्ञानरूप है, वही जाननेयोग्य है तथा

गीतामें अ० १३, श्लो० ७ से ११ तक बतलाये हुए अमानित्व, अदम्भित्व आदि बीस साधनोंसे प्राप्त किया जा सकता है। वह सबके हृदयमें सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः। (गीता १५। १५)

तथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गीता १८। ६१)

वही सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, सर्वरूप परमात्मा है, वही सर्वथा जाननेयोग्य है। वही परब्रह्म परमात्मा, जहाँ जगत् तथा जगदाकाररूपमें परिणत होनेवाली प्रकृतिका अत्यन्त अभाव है, वहाँ 'निर्गुण-निराकार' कहलाता है। उसी परमात्माको जब प्रकृतिसहित जगत्‌के कारणरूपमें देखते हैं, तब वह सगुण निराकाररूपसे समझमें आता है तथा जब उसे हम सम्पूर्ण संसारके स्रष्टा, पालक और संहारकके रूपमें देखते हैं, तब वही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—इन त्रिदेवोंके रूपमें ज्ञात होता है। वही परमात्मा जब धर्मका नाश और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये राम-कृष्ण आदि विविध रूपोंमें अवतार लेते हैं तथा संत-मतके अनुसार वे ही परमात्मा ज्योतिरूपमें साधकोंके अनुभवमें आते हैं। उनका वर्णन संतोंने पतिरूपमें तथा अमरलोकके अधिपतिके रूपमें किया है तथा यह भी बतलाया है कि 'वे ही हंसरूप संतोंको अमरलोकसे संसारमें भक्तिका प्रचार तथा संसारका उद्धार करनेके लिये भेजते हैं।' वे ही दिव्यवैकुण्ठाधिपति, दिव्यगोलोकाधिपति, दिव्यसाकेताधिपति, दिव्यकैलासाधिपति, दिव्यधामके अधिपति, सत्यलोकके अधिपति आदि विभिन्न नामोंसे पुकारे जाते हैं तथा इनकी प्राप्तिका ही परमात्माकी

प्राप्ति, मोक्षकी प्राप्ति, परमस्थानकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति, आद्यस्थानकी प्राप्ति, परम शान्तिकी प्राप्ति, अनामय पदकी प्राप्ति, निर्वाण—परम शान्तिकी प्राप्ति आदि-आदि अनेक नामोंसे गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें निरूपण किया गया है। वही सर्वोपरि परमतत्त्व श्रीगीताजीका ज्ञेय-तत्त्व है, जिसकी प्राप्तिके स्वरूपका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६।२२)

—जिस स्थितिकी प्राप्तिके बाद वह कभी विचलित नहीं होता। मनुष्यके विचलित होनेके दो कारण होते हैं—एक तो जब वह प्राप्त वस्तुसे अधिक पानेकी आशा करता है; दूसरे, जहाँ वह रहता है, वहाँ यदि कष्ट आ पड़ता है तो वह विचलित होता है। इन दोनों कारणोंका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि उस ज्ञेय-तत्त्वकी प्राप्तिसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। उसकी दृष्टिमें भी उससे बढ़कर कोई अधिक लाभ नहीं दीखता; क्योंकि उससे बढ़कर कोई तत्त्व है ही नहीं तथा तत्त्वज्ञ महापुरुषमें सुखका भोक्तापन रहता नहीं। अतएव व्यक्तित्वके अभावमें भारी-से-भारी दुःख आ पड़नेपर भी विचलित कौन हो और कैसे हो? वह महापुरुष तो सदा निर्विकार-रूपमें स्थित रहता है। वह गुणातीत हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २२—२५)

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा मानता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है; जो मनुष्य उदासीन (साक्षी)-के समान स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा 'गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं'—यों समझकर जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता; जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ सुख-दुःखको समान समझता है तथा मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाव रखता है, धैर्यवान् है, प्रिय और अप्रियको समान देखता है तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानको समान समझता है, मित्र और शत्रुके पक्षमें समभाव रखता है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुष गुणातीत कहलाता है।

गीताके ज्ञेय-तत्त्वकी अनुभूतिका यही फल है।

❑❑

भगवत्प्राप्तिसे ही मानव-जीवनकी सार्थकता

मानव-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। परमात्माकी प्राप्तिको ही जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, मोक्षप्राप्ति, प्रेमप्राप्ति, पूर्णताप्राप्ति और कृतकृत्यता आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। स्थूलरूपसे मानव और मानवेतर प्राणियोंमें कोई अन्तर नहीं है। सभीके शरीर पांचभौतिक हैं। उनमें शरीरधारी जीवमात्र एक परमेश्वरके ही अंश हैं, चिन्मय हैं—'**ममैवांशो जीवलोके।**' (गीता १५।७) योनियाँ दो प्रकारकी होती हैं—१-भोगयोनि, २-कर्मयोनि। मानव-योनि कर्मयोनि (साधनयोनि) है। इसी योनिको श्रीगोस्वामीजी महाराजने '**स्वर्ग नरक अपबर्ग निसेनी**' बताया है। मानव-योनिकी यह महत्ता है कि इसी योनिमें किये गये कर्मोंके अनुसार मुक्ति अथवा देवयोनि, स्थावरयोनि, पशु-पक्षी-कीट-पतंगादि योनियाँ प्राप्त होती हैं। मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही भोगोंका विधान होता है। मानवयोनिमें कर्म करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है। अन्य योनियोंमें जीव अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखादि भोगोंको भोगता हुआ संसार-चक्रमें घूमता रहता है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥

अन्य योनियोंमें जीवको कर्म करनेकी स्वतन्त्रता न होनेसे वहाँ उसकी मुक्तिके मार्ग अवरुद्ध रहते हैं। जीवमात्रपर अकारण स्नेह रखनेवाले भगवान् सर्वेश्वर कभी कृपा करके जीवको

सदाके लिये दुःख-परम्परासे छुटकारा पानेके हेतु प्रयत्न करनेका अवसर देनेके लिये मनुष्ययोनि प्रदान करते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

कुछ लोगोंका कहना है कि मानवको अपने जीवनका एक ध्येय बनाना चाहिये। ध्येय बनानेसे तदनुसार चेष्टा होगी—क्रिया होगी। उनका यह कथन ठीक ही है, परन्तु विचार करनेसे ज्ञात होता है कि भगवान्‌ने पहलेसे ही मानव-जीवनका ध्येय निश्चित कर दिया है। भगवान् पहले जीवके लिये ध्येय निश्चित करते हैं, तदनन्तर उक्त ध्येयकी सिद्धिके निमित्त उस जीवको मानव-शरीरकी प्राप्ति कराते हैं। अतः मानवको कोई नूतन ध्येय बनानेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है पूर्वनिश्चित ध्येय या लक्ष्यको पहचाननेकी। भगवान्‌ने इसी उद्देश्यसे मानव-जन्म दिया है। उन्होंने यह विचार करके कि 'यह जीव अपना कल्याणसाधन करे' उसे मनुष्ययोनिमें भेजा है तथा उसके लिये मुक्ति या उद्धारके समस्त साधन इस योनिमें जुटा दिये हैं—ऐसे साधन जो अत्यन्त सुलभ, सरल और सर्वथा महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिये गोस्वामीजी महाराजने मानव-योनिको 'साधन-धाम', 'मोक्षका द्वार', तथा 'भवसागरका बेड़ा' कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। ....॥

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'जब मनुष्य एक निश्चित ध्येय लेकर उत्पन्न होता है, तब वह उक्त ध्येयको न पकड़कर अन्य दिशाओंमें क्यों भटकने लगता है? जब वह परमात्माकी प्राप्तिके पुनीत लक्ष्यको लेकर आता है, तब उस लक्ष्यकी प्राप्तिके साधनोंमें ही क्यों नहीं लगता? उस ध्येयके विरुद्ध क्रिया उसके

द्वारा क्यों सम्पादित होने लगती है?' इन प्रश्नोंका एकमात्र उत्तर यह है कि वह अपने ध्येयको—अपने पूर्वनिर्धारित लक्ष्यको भूल बैठता है, उसे उसकी विस्मृति हो जाती है। इस विषयको अर्जुनका उदाहरण सामने रखकर समझा जा सकता है। जब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा—'अर्जुन! क्या तुमने गीताका उपदेश एकाग्र होकर सुना? क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?' तब अर्जुनने हर्ष-विस्फारित नेत्रोंसे भगवान्की ओर देखकर इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन्! मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी। यह सब आपके प्रसादसे हुआ है। अब मैं अपनी पूर्व-स्थितिमें आ गया हूँ।' यहाँ स्मृतिका अर्थ न तो 'अनुभव' है और न 'नूतन ज्ञान' ही। पहले कभी कोई अनुभूति हुई थी, कोई ज्ञान हुआ था; पर वह मोहके आवरणसे आच्छादित होकर विस्मृत हो गया था। भगवान्के ज्ञानोपदेशसे वह मोहका आवरण नष्ट हो गया और पूर्व-चेतना पुनः प्रकाशित हो उठी—भूली हुई बात याद आ गयी। वैशेषिकोंने भी 'स्मृति' का लक्षण ऐसा ही किया है—

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

(तर्कसंग्रह)

इसी प्रकार योगदर्शनके रचयिता महर्षि पतंजलिने भी '**अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः** *' लिखकर पूर्वानुभूत विषयके साथ ही स्मृतिका तादात्म्य बताया है। अर्जुनका '**स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८।७३)—यह वचन भी इसी अभिप्रायका पोषक है। इससे ज्ञात होता है कि अर्जुन निश्चितरूपसे लक्ष्यको भूल गया था। उस लक्ष्यकी विस्मृतिमें प्रधान कारण था

* इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—अनुभव किये हुए विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना 'स्मृति' है।

'मोह', जिसके लिये ही भगवान्‌ने **'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।'** (गीता १८।७२) कहकर प्रश्न किया था। 'मोह' शब्दका प्रयोग तो और भी स्पष्टरूपसे उपर्युक्त भावकी पुष्टि करता है। व्याकरणके अनुसार 'मोह' शब्द **'मुह वैचित्त्ये'** धातुसे बना है। **'वैचित्त्ये'** पदपर ध्यान देनेसे यह पता चलता है कि 'विचेतनता—विगतचेतनता' का नाम ही 'वैचित्त्य' है, अतः यह सिद्ध होता है कि पहले अर्जुनको चेत रहा है और बादमें वह मोहसे ग्रस्त होता है। मोह छूटनेका अर्थ है—पूर्व-चेतनाकी प्राप्ति। जबतक उसकी बुद्धि मोहके कलिलसे व्यतितीर्ण नहीं हुई, तबतक वह भगवदाज्ञापालनके लिये प्रवृत्त नहीं होता। गीता अध्याय २, श्लोक ५२ में भगवान्‌ने **'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति'** कहकर इसी ओर अर्जुनको संकेत किया है। पूर्णतः मोह निवृत्त होनेपर ही सम्यक्‌रूपेण चेतनाकी प्राप्ति होती है। तब वह खुलकर कहता है—

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८।७३)

उपर्युक्त विवेचनसे पता चलता है कि जीवनका लक्ष्य, उद्देश्य अथवा ध्येय तो पहलेसे बना-बनाया है, उसको बनाना नहीं है। केवल उसे पहचाननेकी आवश्यकता है। पहचाननेपर उसकी प्राप्तिका साधन सरल हो जाता है। कठिनाई तो पहचान करनेतक ही है। मोहकी ऐसी प्रबल महिमा है कि मानव-जीवन प्राप्त करनेके अनन्तर सचेत रहकर मुक्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले मनुष्यको भी कभी असावधान पाकर वह धर दबाता है। उदाहरणतः महाभारतमें हम देखते हैं कि समरकी सारी तैयारी पूर्ण करनेमें अर्जुनका पूरा हाथ रहता

है। कुरुक्षेत्रकी धर्मभूमिमें कौरव और पाण्डव-सेनाएँ व्यूहाकार खड़ी होकर शंखध्वनिके तुमुल नादसे युद्धकी सूचना देती हैं, तब अर्जुन भी अपने देवदत्त शंखका नाद करता है। शस्त्रसम्पातका प्रारम्भ होनेवाला ही है। अर्जुन पूर्ण सचेत है तथा कर्तव्यपरायण क्षत्रियकी तरह भगवान् श्रीकृष्णको आदेश देता है—'**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।**' (गीता १।२१) 'भगवन्! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करिये। मैं देखूँ कि इस युद्धमें मुझे किन-किन लोगोंसे लोहा लेना है?' इन जोशभरे वीरोचित शब्दोंको सुनकर भगवान् भी रथको तत्क्षण दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करके अर्जुनको कुरुवंशियोंकी ओर देखनेकी आज्ञा देते हैं। अर्जुन ज्यों ही दोनों सेनाओंमें अपने कुटुम्बियों, स्नेहियों, गुरुजनों तथा स्वजनोंको ही युद्धके लिये सज्जित देखता है, त्यों ही उसके मनमें विषाद छा जाता है। युद्धका परिणाम युद्धसे भी भयंकर और दारुण प्रतीत होता है। इस कुलक्षयसे उसे सुखकी कल्पना न होकर सर्वनाशकी परम्परा खुलती दिखायी देती है। उसके लिये अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं रह जाता और इस कुटुम्बग्रासकी अपेक्षा अपने लिये मृत्युकी आकांक्षा श्रेयस्कर प्रतीत होने लगती है। उसे कर्तव्यमें अकर्तव्य, श्रेयमें अश्रेय तथा अर्थमें अनर्थके दर्शन होते हैं। ममता और आत्मीयताके कारण ऐसे युद्धसे विरत होना ही वह श्रेष्ठतम कर्तव्य समझ बैठता है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके इस दुर्धर्ष मोहकी 'क्लैव्य', 'कश्मल' आदि शब्दोंसे तथा '**अनार्यजुष्टम्**', '**अस्वर्ग्यम्**', '**अकीर्तिकरम्**' आदि पदोंसे उसके भयंकर परिणामोंको दिखाकर निन्दा की। किंतु अर्जुनपर मोहका ऐसा गहरा रंग चढ़ा था कि उसने अपने भावोंको ही श्रेष्ठ माना

और पुनः कुछ बोलकर उन्हींका पिष्टपेषण किया। पुष्ट प्रमाणोंसे अपने वचनोंपर जोर देते हुए कहा—'पूजाके योग्य पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणको बाणोंसे कैसे मारा जा सकता है? मारनेपर गुरुजन-हिंसाके जघन्य अपराधके बाद हमें उनके रक्तसे सने हुए केवल अर्थ-काममय भोग ही तो प्राप्त होंगे। धर्म अथवा मुक्ति तो मिल नहीं जायगी? अतः मेरे विचारसे युद्धका कोई औचित्य नहीं है। इस प्रकार अर्जुनपर मोहने ऐसा अधिकार जमा लिया कि वह कर्तव्यविमुख हो गया। अनन्तभगवान्‌ने गीता-ज्ञानका महान् उपदेश देकर उसके मोहको निवृत्त किया। अतः गीता प्रत्येक मोहग्रस्त मानवके मोह-निवारणका अमोघ औषध है।'

मानव जबतक अपने लिये सुनिश्चित ध्येयकी पूर्तिकी ओर अग्रसर नहीं होता, तबतक वह अन्य सामान्य जीव-योनियोंसे विशिष्ट कोटिमें नहीं पहुँचता। अतः मनुष्यको अपने उद्धार या कल्याणकी दृष्टिसे अपनी विस्मृत चेतनाकी पुनः प्राप्तिके लिये प्रयत्नरत होनेमें ही मानवताकी सार्थकता समझनी चाहिये। जिस कार्यके लिये यह दुर्लभ मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ है, उसका साधन न करके मानव-शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी मुख्यता माननेके कारण कुटुम्ब एवं भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उसे भूल गया है। जनसाधारणकी ऐसी ही स्थिति प्रायः देखनेमें आती है। वस्तुतः ध्यानसे देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्यकी जितनी क्रियाशीलता इस विरोधी दिशामें है, उतनी ही विवेकपूर्ण क्रियाशीलतासे मुक्ति अथवा उद्धारका मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है। पर हो क्या रहा है? मानव अपने लिये कभी स्वर्गकी, कभी अर्थकी, कभी भोगकी और कभी यशकी प्राप्तिके लिये

नाना प्रकारकी योजनाएँ बनानेमें मस्त है। वह समझता है कि जीवनका मूल्य इतना ही है। इस प्रकार पुनः अपने-आपको आवागमन-चक्रमें डालनेका कुचक्र वह स्वयं ही रच लेता है। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(६।५)

अर्थात् मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार करे, अपने-आपको अवनतिके गर्तमें न गिरने दे। वह स्वयं ही अपना बन्धु तथा स्वयं ही अपना शत्रु है।

आजका मानव आत्माके उद्धारके लिये यत्न न करके स्वयं ही अपने प्रति शत्रुता कर रहा है। कहाँतक उल्लेख किया जाय, आज जिसको भौतिक सम्मान प्राप्त है, वह और अधिक सम्मानकी खोजमें है। धनिक और अधिक धनकी तलाशमें है। ग्रन्थकार मृत्युके बाद अमर कीर्तिकी अभिलाषामें डूबा है। बड़े-बड़े भवनोंका निर्माता अपनी भौतिक कीर्तिको चिरस्थायी बनानेके स्वप्न देखता है और धर्मोपदेष्टा अपनी प्रसिद्धिका वातावरण बनानेमें संलग्न है—आदि-आदि। इस प्रकार मानवका सारा प्रयत्न ध्येयकी प्राप्तिके लिये न होकर उससे उलटी दिशाकी ओर जानेके लिये हो रहा है। परिणाम यह है कि इस दिशामें जितनी ही विशेषताकी उत्कट आकांक्षा की जाती है, मानवताके वास्तविक लक्ष्यसे उतनी ही अधिक दूरी होती जा रही है; क्योंकि ये सारी बातें व्यक्तित्वको दृढ़ करनेमें सहायक हैं। होना यह चाहिये कि मनुष्य व्यक्तित्वको

हटाकर वहाँ अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करे। उसका सारा प्रयत्न चिन्मयताकी प्राप्तिके लिये होना उचित है।

जैसे कोई मनुष्य तीर्थ-स्नानको जाता है, वहाँ मेलेसे दूर किसी धर्मशालामें ठहरता है और धर्मशालाके स्थानको अपने लिये उपयोगी बनाने, रसोईका सुन्दर प्रबन्ध करने तथा अन्यान्य सुखोपभोगके सामान जुटाने आदिमें इतना तन्मय हो जाता है कि तीर्थ-स्नान, देव-दर्शन, तीर्थ-दर्शन, मेला-महोत्सव और साधु-समागम आदि कोई कार्य नहीं कर पाता। ऐसे मनुष्यको तो हम उपहासास्पद ही बतायेंगे। इसी प्रकार मनुष्य आया तो है भगवत्प्राप्तिके लिये, किंतु लग गया संग्रह और भोग भोगने आदिमें—

आये थे हरि भजनको, ओटन लगे कपास।

भोगोंकी प्राप्ति हमारा लक्ष्य नहीं है, पर प्रयत्न उसीके लिये होता है। भगवान्‌की प्राप्ति ही मानव-जीवनका मुख्य लक्ष्य है, किंतु उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, धन, वैभव, भोग आदि पदार्थ साधनमात्र हैं; किंतु उन्हें साध्य बना लिया गया है और जो वास्तविक साध्य है, उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी है।

भगवान्‌ने जीवके कल्याणके लिये चार पुरुषार्थ निश्चित किये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थोंके विस्तारके क्षेत्र हैं—चारों वर्ण तथा चारों आश्रम। उन्हींके द्वारा इनका अनुष्ठान होता है। चार पुरुषार्थ ही चार इच्छाएँ हैं तथा इनकी प्राप्तिके दो साधन माने जा सकते हैं। काम और अर्थकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी प्रधानता रहती है तथा धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें उद्योगकी। अर्थको काम-प्रवण बना दिया

जाय—कामकी पूर्तिके प्रति उन्मुख कर दिया जाय तो अर्थका नाश हो जाता है। धर्मको कामसे संयुक्त कर दिया जाय तो धर्मका नाश हो जाता है। इसके विपरीत यदि अर्थको धर्ममें लगा दिया जाय तो वह धर्मके रूपमें परिणत हो जायगा। धर्मको अर्थमें लगा देनेसे वह अर्थका रूप धारण कर लेगा। इस प्रकार धर्म और अर्थ एक-दूसरेके पूरक और उत्पादक हैं। पर उन्हींको जब क्रोधसे जोड़नेका प्रयत्न किया जायगा, तब दोनोंका विनाश हो जायगा तथा कामनाका अभाव करके किया गया धर्म और अर्थ—दोनोंका अनुष्ठान मुक्तिमें सहायक हो जायगा। निष्कामभावसे 'काम' का आचरण (विषय-सेवन) भी मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करेगा। अतः मानवको चाहिये कि वह निष्कामभावसे आसक्तिका त्याग करके धर्मपूर्वक अर्थ-कामका आचरण करे। अर्थका सद्व्यय करे और अनासक्तभावसे धर्मानुकूल काम-सेवनमें प्रवृत्त हो। ऐसी प्रगति ही सच्ची मानवताकी दिशामें प्रगति है।

इसी प्रकार चारों वर्ण अपने लिये गीतामें उपदिष्ट वर्णधर्मका पालन करके सच्ची मुक्ति अथवा सिद्धिको प्राप्त कर सकते हैं। जिसको आत्माके कल्याणका साधन करना है, वह इस द्वन्द्वात्मक जगत्के झंझावातोंसे प्रभावित न होकर अपने लिये निश्चित कर्तव्य-मार्गपर चलता रहता है तथा सिद्धिको प्राप्त करके ही दम लेता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बताया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८।४५)

'अपने-अपने कर्ममें अनासक्तभावसे लगा रहनेवाला मानव सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।' ठीक ऐसे ही चारों आश्रम भी

मानवके ध्येयकी पूर्तिमें पूर्ण सहायक होते हैं। आश्रमोंमें दो आश्रम मुख्य हैं—गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रममें गृहस्थाश्रमकी तैयारी की जाती है और वानप्रस्थाश्रममें संन्यासाश्रमकी। ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम आश्रम है। इसमें प्रविष्ट होकर विद्योपार्जन और धर्मानुष्ठान करके यदि यहीं अर्थ-कामकी इच्छाके प्रति निर्वेद उत्पन्न हो जाय तो सीधे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर मानव एक इसी आश्रममें अपना कल्याण-साधन कर सकता है। यदि अर्थ-कामकी इच्छाको विवेक-विचारद्वारा इस आश्रममें नहीं मिटाया जा सका तो उस उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रम रखा गया है। इस आश्रममें रहकर मानव भोगोंके तत्त्वका ज्ञान करनेके लिये धर्मानुकूल अर्थ-कामका आचरण करे। यह भी साध्यकी दिशामें ही प्रवर्तन है, जिससे—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।

—वाली बात सम्भव होती है, क्योंकि धर्मानुसार गृहस्थाश्रमका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होना अनिवार्य है। सीमित भोगका अर्थ ही गृहस्थाश्रम है। असीमित भोगोंके प्रतीकरूपमें सीमित भोग गृहस्थको इसलिये प्राप्त होते हैं कि लक्ष्यको याद रखते हुए, भोगोंका तत्त्व जाननेके लिये विधि-विधानसे सीमित भोग भोगकर गृहस्थ पुरुष उनका तत्त्व जाननेके पश्चात् उन भोगोंसे उपरत हो जाय और परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तत्परतासे लग जाय। उन प्राप्त भोग-पदार्थोंके द्वारा निष्कामभावसे जनता-जनार्दनकी सेवामें प्रवृत्त होकर उस सेवारूप साधनसे भी गृहस्थ परमात्माको प्राप्त कर सकता है। जनता-जनार्दनकी सेवा करते समय सेवाकी सामग्री (धनादि उपकरण) तथा सेवाके साधन (अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि)-को भी उन्हींका (सेव्यका ही)

समझना चाहिये। यह सेवा-सामग्री जिनकी है, उन्हींकी सेवामें इसे लगा रहा हूँ—यह भाव दृढ़ हो जानेपर उन उपकरणोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा। '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**' के अनुसार वे सेव्यके समर्पित हो जायँगे। ऐसी भावना बननेपर ज्ञात होगा कि अपने पास जो कुछ भी भोग-सामग्री और उनका संग्रह है, वह केवल सेवाके उद्देश्यकी पूर्तिके ही लिये है। फिर उनके प्रति अपनी ममताका सर्वथा अभाव हो जायगा। इससे जीवकी जड़ता जड संसारमें मिल जायगी और उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेसे चेतन-स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जायगी।

इस तत्त्वको और अधिक बोधगम्य बनानेकी दृष्टिसे यहाँ यह जान लेना चाहिये कि इन्द्रियोंका उपभोग तीन प्रकारका होता है—(१) भोगोंका तत्त्व जाननेके लिये, (२) उनके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेके लिये तथा (३) परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त शरीर-निर्वाह-क्रियाके सम्पादनके लिये। अब उनका अलग-अलग विश्लेषण किया जाता है।

भोगोंका तत्त्वज्ञान—यहाँ तत्त्व जाननेका अर्थ यह है कि भोगोंमें सीमित सुख है। भोगोंमें सीमित सुखकी मात्रा क्या है—इसके अनुभवके लिये भी हमें उस भोगके अभावके दुःखका अनुभव करना पड़ेगा; क्योंकि भोगके अभावका दुःख जितना अधिक होगा, भोग उतना ही सुख प्रदान करेगा। अतः अभावकी भी आवश्यकता पड़ेगी। अभाव नहीं होगा तो सुख भी नहीं होगा। साथ ही भोग भोगते समय भोगशक्तिका नाश होता है और भोगेच्छा उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है। भोग्य पदार्थ अनित्य होनेसे नाशशील हैं, प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। भोग्य पदार्थोंके नष्ट हो जानेपर उनके भोगनेके संस्कारोंकी स्मृति

कष्टकारक होती है। भोगोंके तत्त्वका यह ज्ञान भोगोंके भोगनेसे उपलब्ध हो जाता है।

दूसरोंकी सेवाका तत्त्व—जबतक मानवको अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंका ज्ञान नहीं होगा, तबतक वह प्रतिकूल पदार्थों और क्रियाओंके त्यागपूर्वक अनुकूल पदार्थ और क्रियाओंद्वारा दूसरोंकी सेवा नहीं कर सकता। सेवा करते समय सेवाकी वस्तुएँ जिनकी हम सेवा करते हैं उनकी समझनी चाहिये। इससे वह उनके प्रति ममता और आसक्तिके बन्धनसे मुक्त हो जायगा। जबतक ममता और आसक्ति है, तबतक अनुकूलता-प्रतिकूलताका द्वन्द्व बना रहता है।

शरीर-निर्वाह-क्रियाका—अर्थ है राग-द्वेषरहित होकर विषयोंका सेवन करना। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२।६४)

‘अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषय-सेवन करनेवाला जितात्मा पुरुष प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता)-को प्राप्त होता है।’

विषयोंका राग-द्वेषपूर्वक चिन्तन करनेसे मनुष्यका पतन होता है; क्योंकि विषयोंका ध्यान उनके प्रति मानव-हृदयमें आसक्तिका अंकुर उत्पन्न कर देता है और आसक्ति सब अनर्थोंकी जड़ है। यहाँतक कि आसक्तिसे मानवकी बुद्धि नष्ट होकर उसका पतन हो जाता है—

बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

(गीता २।६३)

किन्तु राग-द्वेषरहित होकर विषयोंका सेवन भी प्रसादकी प्राप्ति कराता है। यह विषय-सेवन राग-द्वेषके त्याग और संयमपूर्वक केवल शरीर-निर्वाहमात्रके लिये ही होना उचित है, न कि भोगबुद्धिसे। तभी वह मुक्तिका कारण होता है। अस्तु,

गृहस्थाश्रमी गृहस्थ-धर्मका पालन करके भी परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है—यह ऊपर बताया गया अथवा वह वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे और वहाँ तितिक्षा तथा संयमकी उत्कट साधनमें रत होकर परमात्माको प्राप्त करे अथवा संन्यासकी योग्यता प्राप्त करके संन्यास-आश्रममें चला जाय। वहाँ बाहर-भीतरसे त्यागी होकर निरन्तर ब्रह्मचिन्तन करते हुए परमात्माको प्राप्त करे।

जड-चेतनकी ग्रन्थिका नाम ही जीव है; इसलिये मानवमें जड अंशको लेकर सुख-भोग तथा संग्रहकी इच्छा होती है और चेतन अंशको लेकर मुमुक्षा अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिकी इच्छा होती है। मुक्ति और भुक्तिकी इच्छाओंमें भोगोंकी इच्छा चाहे कितनी ही प्रबल हो जाय, वह परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छाको मिटा नहीं सकती। जडता चेतनतापर कुछ कालके लिये भले ही छा जाय, पर उसका अस्तित्व मिटा नहीं सकती। बल्कि परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा प्रबल और उत्कट हो जानेपर भोगेच्छाका अस्तित्व मिट जाता है; क्योंकि भोग और उनकी इच्छा दोनों ही अनित्य हैं। परमात्मा और उनका प्रेम दोनों नित्य हैं। परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा ही भगवान्‌के प्रेमका स्वरूप बन जाती है। प्रेम और भगवान् दोनों एक हैं। जबतक भोगोंकी यत्किंचित् इच्छा है, तभीतक साधनावस्था है। जब

परमात्माकी प्राप्तिकी इच्छा, मोक्षकी इच्छा, प्रेम-पिपासा मुख्य इच्छा बन जाती है, तब भोगेच्छा मिट जाती है। उसके मिटते ही नित्यप्राप्त परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार मानव सहज ही अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। वह कृतकृत्य, प्राप्त-प्राप्तव्य और ज्ञात-ज्ञातव्य हो जाता है। अर्थात् उसने करनेयोग्य सब कुछ कर लिया, प्राप्त करनेयोग्य सम्पूर्ण लक्ष्य प्राप्त कर लिया और जाननेयोग्य सब कुछ जान लिया। इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है।

❑ ❑

अखण्ड साधन

बात बड़ी सुन्दर पूछी है। ये जो दो प्रश्न आये हैं—एक तो अखण्ड साधन कैसे हो; दूसरा यह कि साधन, साध्य और साधकका क्या स्वरूप है, इनकी एकता कैसे हो? ये दोनों मिलकर एक ही प्रश्न है। एक प्रश्न आया कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं—यह बात एक नयी-सी मालूम देती है, यह कैसे समझमें आये? ये दोनों ही प्रश्न एक ही ढंगके हैं और इनका एक ही उत्तर है।

वास्तवमें साधकको जो यह बात समझमें नहीं आ रही है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ', भगवान् मेरे हैं'—इसका खास कारण है शरीरके साथ अपनी एकताका भाव दृढ़ है। यह एकताका भाव दृढ़ हो जानेसे ही यह समझमें नहीं आता कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' वास्तवमें शरीरके साथ इसका सम्बन्ध है नहीं, यह केवल माना हुआ है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**।' मान्यता इतनी दृढ़ हो गयी कि सच्ची प्रतीत होने लगी। ठीक सच्ची प्रतीत होती है शरीरके साथ एकताका दृढ़ निश्चय हो जानेसे। किंतु जब ऐसी दृढ़ भावना हो जाय कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' तब वह बात नहीं ठहरती। वास्तवमें शरीरके साथ इसकी एकता है नहीं। और थोड़ा-सा विचार करें तो यह प्रत्यक्ष बात हर एकके अनुभवमें आ सकती है कि पहले हमारा इस शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके साथ सम्बन्ध नहीं था। आजसे ९० वर्ष पहले, १०० वर्ष पहले, इतने जो अपने बैठे हैं, इनमेंसे किसीका भी वर्तमान शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं था, फिर इस शरीरके सम्बन्धियोंके साथ कब रहा? तथा आजसे १०० वर्ष बाद

इन शरीरोंके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा, तब फिर शरीरके सम्बन्धियोंके साथ कैसे रहेगा? इस विचारसे हर एक भाई-बहनकी समझमें यह बात आ सकती है। दृढ़तासे समझ लें—'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।**' सिद्धान्त है—जो आदि-अन्तमें नहीं रहता है, वह वर्तमानमें भी नहीं है और वर्तमानमें भी वही है जो आदि-अन्तमें था। इस शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके साथ सम्बन्ध पहले नहीं था और अन्तमें नहीं रहेगा, अतः अब भी नहीं है। जब शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है तो किसके साथ सम्बन्ध है? हमारा सम्बन्ध प्रभुके साथ है। वास्तवमें है ही भगवान्‌के साथ सच्चा सम्बन्ध। शरीर और कुटुम्बियोंके साथ तो सम्बन्ध माना हुआ है, किंतु प्रभुके साथ सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है।

जो मान्यता होती है। उसमें मूल कारण होता है अनजानपना, और अनजानपना आता नहीं है, अनादि सिद्ध है यानी इसका आना नहीं होता, जाना तो हो सकता है। अभी कोई किसी भाईसे पूछे कि 'तुम्हें फ्रेंच भाषा आती है?' वह कहेगा—'नहीं आती।' फिर पूछे—कबसे? तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। अनजानपना कबसे है यह प्रश्न नहीं बनता। इसलिये वेदान्तमें अज्ञानको अनादि माना है। अतः अज्ञान—अनजानपना अनादि है। फिर भी आप यह प्रश्न करें कि हम तो इसे जानना ही चाहते हैं—यह अनजानपना आया कहाँसे? इसका असली उत्तर तो हो गया, पर फिर भी पूछें तो यह उत्तर है कि 'यह अनजानपना तभीसे आया, जबसे आपने, जो अपना नहीं है, उसको अपना माना।' इसपर प्रश्न होता है कि जो अपना नहीं है उसको अपना क्यों माना? इसका एक तो कारण

अज्ञान है, अतः यह मान्यता अज्ञानका कार्य है। दूसरी बात यह है कि 'हमने माना तो था इसके तत्त्वको जाननेके लिये, पर उसे तो हम भूल गये और उसको अपना मानकर बैठ गये।'

जैसे भारतीय संस्कृतिके अनुसार द्विजातियोंके लिये यह विधान है कि पहले ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करो, फिर गृहस्थ बनो। ब्रह्मचारी दो तरहके होते हैं—१-नैष्ठिक-ब्रह्मचारी, २-उपकुर्वाण। जो ब्रह्मचर्याश्रमसे ब्रह्मचर्याश्रममें ही रहें अथवा सीधे संन्यासाश्रममें चले जायँ—सदाके लिये अखण्ड ब्रह्मचारी बनें, वे नैष्ठिक-ब्रह्मचारी कहलाते हैं और जो ब्रह्मचर्याश्रमका यथावत् पालन करके उसकी समाप्ति-स्नान करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हों; फिर क्रमसे वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रममें जायँ, वे कहलाते हैं—उपकुर्वाण ब्रह्मचारी। ये दो भेद क्यों हुए? ये दो भेद इसलिये हुए कि मानव-शरीर मिला है परमात्माकी प्राप्तिके लिये और जो परमात्माकी प्राप्ति चाहता है, उसको संसारका त्याग करना पड़ता है। संसार-त्यागकी बात सुनकर हम डर जाते हैं। पर संसारके त्यागका अर्थ यह नहीं है कि हम यहाँसे भागकर चले जायँ। जंगलमें ही चले गये, तो क्या जंगल संसार नहीं है? और जिस शरीरको लेकर जाते हैं वह शरीर क्या संसार नहीं है? संसारके त्यागका मतलब है शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन, बुद्धि, प्राण आदि पदार्थोंमें अहंता-ममताका त्याग। यही संसारका त्याग है। परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो संसारका त्याग करना पड़ेगा अर्थात् सांसारिक वस्तुओंके साथ अहंता-ममता नहीं रख सकोगे। अहंता-ममता रखोगे तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी—यह निश्चित बात

है। जब हम त्याग करते हैं तब हमारे मार्गमें बाधा देनेवाली है भोगोंकी रागवृत्ति, संग्रह और सुखकी आसक्ति। सांसारिक सुख लेने, भोगोंका सुख लेने, संग्रहका सुख लेनेकी आसक्ति ही त्यागमें बाधक होती है। ब्रह्मचर्याश्रममें ऐसा विचार किया जाय कि इसका त्याग करके परमात्माकी ओर चलना है तो विचारद्वारा, विवेकद्वारा, शास्त्रद्वारा, उपदेशद्वारा हम इनको छोड़ना चाहते हैं, पर कैसी जबरदस्ती हो रही है कि छूटती नहीं है, किसी तरह छोड़ सकते ही नहीं। तब कहा कि 'तुम सब गृहस्थाश्रममें जाओ, इसे देखो—पदार्थ क्या हैं और कैसे हैं? किन्तु जब हम विचारके द्वारा इनको छोड़नेमें समर्थ हो जाते हैं तब कहते हैं—'तुम नैष्ठिक-ब्रह्मचारी बन जाओ।' तो ये दो पथ वहाँसे इसलिये हुए कि अधिकारी दो तरहके हैं। गृहस्थाश्रमका धारण करना किसलिये हुआ? विचारद्वारा जिस भोगासक्तिका हम नाश न कर सके, उसका ज्ञान करके, उसे जानकर, समझकर, भोगकर उसका तत्त्व समझमें आ जाय तब उसका त्याग कर दें इसलिये। निष्कर्ष यह कि गृहस्थाश्रमको धारण करना त्यागके लिये होता था, न कि रागके लिये—सदा फँसनेके लिये। यह राग करना हमारी संस्कृति ही नहीं है।

जैसे यह सिद्ध हो गया कि गृहस्थाश्रममें हम क्यों प्रविष्ट हुए? त्यागके लिये, वैसे ही अज्ञानसे हमने यह सम्बन्ध क्यों जोड़ा? त्यागके लिये। इसीलिये इसे अपना माना। त्याग पहले क्यों नहीं हुआ? त्याग कर नहीं सके। अतः गृहस्थाश्रमको अपनाया। गृहस्थाश्रमको अपनाकर क्या करें? गृहस्थाश्रमको अपनाकर शास्त्रीय रीतिके अनुसार उसका पालन करें। शास्त्रीय रीति साथमें लाते ही भोगोंमें सीमितपना आ जायगा। देश-

काल-वस्तु सब सीमित हो जायगी और सीमित होकर उसके नियम भी हो जायँगे कि ऐसे-ऐसे भोगो। अतः सीमित पदार्थोंके साथ सम्बन्ध और नियमपूर्वक भोगनेका सम्बन्ध— ये दो बातें रहेंगी। इसीको धर्म कहते हैं यानी धर्मके अनुसार गृहस्थाश्रमका पालन करो। फिर क्या होगा? उच्छृंखल भोग नहीं भोग सकते। इससे एक तो हमारा जीवन नियमित हो जायगा और दूसरी उसमें एक विलक्षण बात और हो जायगी कि हमारा उद्देश्य त्यागका रहेगा। ये दो चीजें साथ होनेसे वैराग्य आवश्य होगा ही—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

धर्म ते बिरति—'एक स्त्रीके साथ विवाह करो' तो सीमित हुआ न? एक गृहस्थमें रहो, एक परिवारमें रहो, एक घरमें रहो, यह तुम्हारा और यह तुम्हारा नहीं। तो यह तुम्हारा भी अपना कैसे है? जब सारा संसार एक है तो एक घर आपका कैसे? एक परिवार आपका कैसे? उतने ही रुपये आपके कैसे? यह समष्टि पदार्थोंमेंसे नमूना आपको दे दिया गया कि इस नमूनेके साथ न्याययुक्त बर्ताव करते हुए, सबका पालन-पोषण करते हुए आप इनके सुखोंको लें और भोगें। भोगकर देखें इसका नमूना। किसलिये? त्यागके लिये। तो स्वतः आपके त्याग होगा। धर्मका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होता ही है, भागवतमें लिखा है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान किया जाय और भगवान्‌के चरणोंमें यदि प्रीति उत्पन्न नहीं हुई तो धर्मका अनुष्ठान नहीं

हुआ, केवल परिश्रम हुआ, परिश्रम—'**श्रम एव हि केवलम्।**' यह नियम है कि धर्म पूर्वक विषयोंका सेवन करनेसे वैराग्य होता है। सोचिये, धर्मपूर्वक सेवन करता है किस उद्देश्यसे? रागको मिटानेके उद्देश्यसे। जब रागकी प्रबलता होती है तब मनुष्य धर्म-कर्म नहीं देखता; फिर तो रागपूर्वक विषय-सेवन करता है। उस विषय-सेवनसे तो विषयका राग बढ़ेगा ही, वैराग्य नहीं होगा। आज बूढ़े हो जानेपर भी वैराग्य नहीं होता। कारण क्या है? भोग भोगनेके लिये भोग भोगते हैं। रागपूर्वक भोग भोगते हैं। सुख लेनेके लिये भोग भोगते हैं। इससे वैराग्य ब्रह्माजीकी आयु समाप्त हो जायगी तब भी नहीं होगा। और उद्देश्य यदि इनके तत्त्वको जानकर त्यागका है तो नियमपूर्वक विषयोंको भोगनेसे अरुचि हो जाती है। अतः हम देख लें। संतोंने कहा है—

गुल सोर बबूला आग हवा सब कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियाको सब धोखेकी-सी टट्टी है॥

तथा—

चाख चाख सब छाँड़िया माया रस खारा हो।
नाम सुधा रस पीजिए छिन बारंबारा हो॥
लगे हमें राम पियारा हो॥

अतः '**चाख चाख सब छाँड़िया माया रस खारा हो**'—जब यह कड़वा लगेगा तब स्वतः छूटेगा।

हमने जो शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़ा था, वह जैसे गृहस्थाश्रमी पुरुष अपनी एक पत्नीके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, वैसे ही जोड़ा था त्यागके लिये। किंतु उसको भूल गये। इसका नाम है अज्ञान—मूर्खता।

अतएव अब इसे याद कर लें कि 'हमने इसके साथ सम्बन्ध जोड़ा है केवल त्याग करनेके लिये।' त्याग करनेके लिये ही

परीक्षा करना है और देखकर छोड़ देना है जिससे आगे चलकर हमारा मन कभी न चले। शरीरके साथ अपनापन माना हुआ है। यदि इसको हमने नहीं छोड़ा, यह हमसे नहीं छूटा तो इसके तत्त्वको जान लें। जब आप इसके तत्त्वको जान लेंगे तब इसके साथ सम्बन्ध रहेगा नहीं।

इसीलिये भगवान्‌ने कृपा करके संसारकी ऐसी सुन्दर रचना की है कि कोई वस्तु कभी भी एकरूप नहीं रहती। यह भगवान् क्रियात्मक उपदेश दे रहे हैं जीवोंको कि जिसके साथ तुम सम्बन्ध जोड़ोगे वह उस रूपमें नहीं रहेगा। यह एक बात विनोदसे कह देते हैं कि भगवान्‌के और जीवके बीचमें एक हठ हो गया है। जीव तो कहता है—मैं सम्बन्ध जोड़ूँगा। भगवान् कहते हैं—बच्चू! मैं सबन्ध तोड़ूँगा। जीव कहता है—मैं बच्चा हूँ। भगवान् कहते हैं—बचपनको नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं जवान हूँ। भगवान् कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। जीव कहता है—यह इतना मेरा परिवार है। भगवान् कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। जीव कहता है—इतना धन मेरे पास है। भगवान् कहते हैं—यह भी नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं बड़ा स्वस्थ हूँ। वे कहते हैं—नहीं रहने दूँगा। वह कहता है—मैं बीमार हूँ। वे कहते हैं—इसे भी नहीं रहने दूँगा। भगवान् कहते हैं—'जिनके साथ तू सम्बन्ध जोड़ेगा, मैं उन सबका सम्बन्ध-विच्छेद करता रहूँगा। तू जोड़ता जायगा तो मैं तोड़ता जाऊँगा।'

यहाँ सम्बन्ध तोड़नेका अर्थ क्या है—आगे नया सम्बन्ध न जोड़ना, तब पुराना सम्बन्ध अपने-आप टूट जायगा, क्योंकि वह तो छूटनेहीवाला है—

अंतहि तोहि तजेंगे पामर! तू न तजै अब ही तें।
मन पछितैहै अवसर बीते॥

अत: इसका तत्त्व जाननेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ा है, न कि सम्बन्ध रखनेके लिये।

और तो क्या कहें; आप जिनको संत, महात्मा, विरक्त, त्यागी, अच्छे पुरुष मानते हैं, उनके साथ भी सम्बन्ध जोड़ना वास्तवमें सम्बन्ध तोड़नेके लिये है। यह बात कड़वी लगती है, पर बात यही है। गृहस्थाश्रम छोड़कर साधु बन गये और गुरुजीके साथ सम्बन्ध जोड़ा। गुरुजीके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये थोड़े ही जोड़ा है। गुरुजी बता देंगे कि 'भाई! तुम्हारा सम्बन्ध सदा रहनेवाले असली स्वरूपके साथ है। इन सबके साथ सम्बन्ध रहनेवाला नहीं है। अत: सबसे सम्बन्ध तोड़नेके लिये ही इनसे सम्बन्ध जोड़ना है, न कि इनके साथ ही मर मिटना है। इस जोड़े हुए सम्बन्धको नित्य मान लेते हैं, यही गलती है। हमने जो शरीरके साथ सम्बन्ध मान लिया, इसीसे यह गलती हुई है। तो अब हम क्या करें?

'शरीर मैं हूँ'—यह भाव होनेसे ही 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' यह बात समझमें नहीं आती। समझमें न आनेमें कारण शरीरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। जीव वास्तवमें परमात्माका है और परमात्मा जीवके हैं—यह इसका असली सम्बन्ध है। इसलिये जो अच्छे संत-महात्मा होते हैं, वे यही उद्देश्य रखते हैं, यही उपदेश देते हैं कि 'तुम परमात्माके हो और परमात्मा तुम्हारे हैं। तुम यह शरीर नहीं हो।'

जबतक शरीरके साथ 'मैं'-पन बना हुआ है, तबतक साधन अखण्ड नहीं होगा। यह प्रश्न था कि 'अखण्ड साधन कैसे हो?' जबतक आपका इस शरीरमें मैंपन और मेरापन है, तबतक

साधन अखण्ड नहीं होगा। जरा ध्यान दें, अखण्ड क्या होता है और खण्ड क्या होता है? जो मैंपन है, वह अखण्ड होता है। आपको कभी भी पूछा जाय, यही उत्तर होगा—मैं हूँ। इसको आप चाहे याद रखें, या बिलकुल गाढ़ नींद आ जाय, चाहे व्यवहारमें बिलकुल भूल जायँ, परन्तु मैं अमुक वर्णका, अमुक आश्रमका हूँ, यह आपको बिना याद किये भी याद है, बिना स्मृतिके भी यह स्मरण है। आपको याद ही नहीं, होश ही नहीं कि किस काममें लगे हैं, पर जहाँ जरा सावधान हुए, वहाँ 'मैं हूँ' यह भाव है। फिर वही नाम, वही गाँव, वही वर्ण, वही आश्रम और अपनी वैसी-की-वैसी स्थिति दिखलायी पड़ेगी, स्वप्नमें भी। इसलिये 'मैं'-के साथ जोड़ा हुआ सम्बन्ध अखण्ड होता है। 'मैं'-का सम्बन्ध भगवान्‌के साथ न जोड़कर संसारके साथ जोड़े रखते हैं और भजन करना चाहते हैं अखण्ड। असम्भव बात है। चाहे इस कान सुनें, चाहे उस कान। आप मानें या न मानें। प्रमाण मिले चाहे न मिले। हमें तो भाई! संदेह है नहीं। आपको संदेह हो तो आप भले ही न मानें। आपसे हमारा कोई आग्रह नहीं।

वर्षोंतक सत्संग-भजन करते हुए भी निरन्तर भजन नहीं होता—इसके अनेक कारणोंमें बहुत मुख्य और बड़ा कारण है कि आपने अहंताके साथ साधनका सम्बन्ध नहीं जोड़ा है। साधन तो करते हैं और संसारका चिन्तन होता है। जो होता है वह असली है और जो करते हैं वह होता है नकली। असली होगा वही अखण्ड होगा। नकली अखण्ड कैसे होगा? नकल करेंगे, छूट जायगी; फिर होगी, फिर छूट जायगी। तो हम क्या करें! यदि अखण्ड साधन करना चाहते हैं तो 'मैं भगवान्‌का हूँ' इस बातको समझें, चाहे मान लें। प्रभुके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे

आपपर जिम्मेवारी आ जाती है कि अब और करना ही क्या है, साधन ही करना है। मैंने उस दिन कहा था न कि 'साधन ही करना है, साधन भी करना है, यही नहीं।' हमारे भाई-बहन साधन भी करते हैं। यह भी कर लो, घंटा-दो-घंटा समय लगा दो, बारह महीनेमें दो-चार महीने लगा दो, यह भी कर लो और घरका काम तो करना ही है। वह तो 'ही' है और यह 'भी' है। यह मिटेगी नहीं, इस तरह जबतक आप संसारके साथ सम्बन्ध मानते हैं; तबतक वह सम्बन्ध संसारसे ही रहेगा।

विचार करके देखें तो संसारका सम्बन्ध था नहीं और रहेगा नहीं। मैंने जो संसारका सम्बन्ध बतलाया, यह तो मैं स्थूल रीतिसे कहता हूँ। सूक्ष्म रीतिसे देखें तो बिलकुल सम्बन्ध है ही नहीं, एक क्षण भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे गंगाजीका यह जल बहता हुआ एक क्षण भी स्थिर नहीं है, परंतु स्थूल दृष्टिसे देखें तो कहते हैं, कलसे इसी सीढ़ीपर जल चल रहा है, जैसा कल था वैसा ही आज है, उतने ही पर चल रहा है, वही है और सूक्ष्म रीतिसे एक क्षण भी वह जल वहाँ नहीं है, जहाँ कल था या एक क्षण पूर्व था। यदि एक क्षणके बाद उसी जगह वह स्थिर रहे तो सदाके लिये ही स्थिर रहना चाहिये; किंतु एक क्षण भी स्थिर कहाँ? इसी प्रकार ये शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण एक क्षण भी स्थिर नहीं हैं। क्योंकि—

क्षणपरिणामिनो भावा ऋते चितिशक्तेः।

उस चेतनशक्तिके सिवा सब क्षणपरिणामी हैं। क्षणपरिणामीके साथ आपने अपना अपनापन कर लिया, इसीसे अपना अपनापन आपको दिखलायी नहीं देता है। तब यह कैसे समझमें आये कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' वस्तुतः हैं ही भगवान् अपने और अपना कोई है ही नहीं। गहराईमें उतरकर देखें, कोई अपना

नहीं है। अरे! शरीर ही अपना नहीं, तो दूसरा अपना कैसे रहेगा? और शरीरसे सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह अपना कैसे?

इसपर यदि कहते हैं—अब क्या करें? अपनापन दृढ़तासे दिखलायी दे रहा है इसे कैसे हटायें, तो इसके लिये एक बड़ी ही सरल और बहुत बढ़िया युक्ति है। इसे बहन-भाई, छोटा-बड़ा, पढ़-अनपढ़ हर एक कर सकता है। वह क्या है? साधकका एक जीवन है। इस जीवनके दो विभाग (बँटवारा) कर लेने चाहिये। एक तो असली, दूसरा नकली। यह मान लेना चाहिये कि एक असली है, एक नकली है। जैसे स्वाँग खेलनेवाला जिस स्वाँगको पहनता है उसको नकली मानता है, असली नहीं मानता। और स्वयं जो 'मैं'-पन होता है उसको असली मानता है, नकली नहीं। इसी तरह हमलोगोंने जो शरीर धारण किये हैं—यह हमारा स्वरूप असली नहीं है। यह स्वाँग है और हम स्वाँग धारण करनेवाले हैं—इनके साथ मैं-मेरापन करनेवाले हैं। अतः हम तो हुए भगवान्‌के और स्वाँग लिया संसारका। आज बात उलटी हो रही है—हम हैं संसारके और स्वाँग करते हैं भगवद्भजनका। अतः स्वाँग करके जो भजन करते हैं वह भजन दृढ़—अखण्ड कभी होगा ही नहीं, होगा ही नहीं, होगा ही नहीं। स्वाँग अखण्ड कैसे होगा? स्वाँग तो खेलके समय रहेगा, बादमें नहीं रहेगा। तो इसका हमें परिवर्तन करना होगा, इसे बदलना होगा कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।' इस शरीरसे पहले भी मैं शरीर नहीं था और शरीर मेरा नहीं था एवं इसके बाद भी यह मैं-मेरा नहीं रहेगा, किंतु यह स्वयं रहेगा। इसलिये इसको भगवान्‌का मानो तो भगवान्‌का है। भगवान्‌का न मानो तो अपना-आप है।

आप जो बालक बने थे वही आज बूढ़े बने हैं। आपका

शरीर वह नहीं, संग वह नहीं, गिरोह वह नहीं, वेष वह नहीं, समय वह नहीं, अवस्था और वर्ष भी वह नहीं, फिर भी आप कहें कि मैं वही हूँ—बड़े भारी आश्चर्यकी बात है! सबका अनुभव है, परंतु कोई ध्यान नहीं देता। वस्तुतः यह मैं नहीं हूँ, मैं तो मैं हूँ, वह अखण्ड हूँ, क्योंकि मैं जो बालकपनमें था वही आज हूँ। कोई पूछे— सामग्री आपकी कौन-सी वही है? बुद्धि, विचार, लक्ष्य, उद्देश्य, कोई-सा भी वह नहीं है, किंतु आप वही हैं। शरीर वह नहीं, परिस्थिति वह नहीं, देशकाल वह नहीं, गिरोह वह नहीं, वस्तुएँ वे नहीं, अवस्था वह नहीं, आपका ध्येय वह नहीं, विद्या-विचार वह नहीं। जब ये सब बदल गये तो आपका सम्बन्ध इनसे कैसे?

यह तो सब स्वाँग है। आप इन सबको जाननेवाले अलग हैं। वह जो जाननेवाले आप हैं, वही भगवान्‌के हैं। यह सब तो संसारकी चीजें हैं। स्वाँग खेलनेवालेको स्वाँग कम्पनीसे मिलता है, पोशाक कम्पनीसे मिलती है और वहाँ जो स्टेज—रंगमंच होता है, वह भी कम्पनीका ही होता है। उसीके स्वाँगसे उसीके रंगमंचपर उसीकी प्रसन्नताके लिये और दर्शकोंकी प्रसन्नताके लिये स्वाँग खेलते हैं। दर्शकोंकी प्रसन्नता भी मालिककी प्रसन्नताके लिये ही होती है। दर्शक प्रसन्न न हों तो मालिकसे इनाम न मिले। इसी तरह आपने जो स्वाँग धारण किये हैं, उन स्वाँगोंके अनुसार बढ़िया-से-बढ़िया काम करना है, पर स्वाँग मानकर करना है। इसीका नाम है धर्मका अनुष्ठान।

स्वाँगके अनुसार खेलनेके लिये एक पुस्तक होती है, पुस्तकोंसे यह सिखाया जाता है कि इतने शब्द आप बोलें, इतने वे बोलें। वैसे ही हमारी पुस्तकोंमें लिखा है कि गृहस्थको यह करना चाहिये, पुरुषको ऐसा करना चाहिये, स्त्रीको ऐसा

करना चाहिये, पुत्रको ऐसा करना चाहिये। और यह सब स्वाँग करना है केवल जनताकी प्रसन्नताके लिये। सब लोग कहें—'गृहस्थाश्रम बड़ा उपयोगी है। वाह, वाह, वाह,'—इस प्रकार ठीक तरहसे उसे करना है, पर वाह-वाह लेनेकी भावनासे नहीं करना है। केवल अपनी आसक्ति मिटानेके लिये, स्वाँगके अनुसार प्रभुकी आज्ञाका पालन करनेके लिये; किंतु इसे सच्चा न माने। इसका नाम कर्मयोग है।

इस तरहसे किया जाय तो स्वतः आसक्ति मिटती है और स्वाभाविक ही राग मिटता है। इसीलिये कहा गया है—'**धर्म ते बिरति**' धर्मका अनुष्ठान करनेसे वैराग्य होता ही है। धर्मको छोड़कर आसक्तिसे विषयोंका सेवन करेंगे तो विषय-सेवनसे कभी वैराग्य हो सकता ही नहीं, सम्भव ही नहीं। अतः उद्देश्य वैराग्यका हो और नियम भी वही रहे। स्वाँगके अनुसार कार्य बढ़िया-से-बढ़िया करना है, पर मानना है उसे स्वाँग। स्वाँगमें कमी आ जाय तो गड़बड़ी और स्वाँगको सच्चा माने तो गड़बड़ी। इसलिये पालन करनेमें कमी आवे नहीं और सच्चा माने नहीं। इससे क्या होगा? जैसे स्वाँग पहनकर पैसे कमाये जायँगे, वे भी जायँगे आपके घरमें और स्वाँगरहित हो आप काम करेंगे वे पैसे भी जायँगे आपके घरमें, ये दोनों पैसे ही आपके घरमें जायँगे। वैसे ही आप एकान्तमें बैठकर भजन-ध्यान कर रहे हैं तो अब स्वाँग नहीं, अब तो अपने भगवान्‌की उपासना कर रहे हैं और गृहस्थ बनकर काम कर रहे हैं तो यह संसारमें स्वाँग खेल रहे हैं। पर दोनोंका मतलब भजनसे होगा। इससे भगवान्‌के यहाँ ही दोनोंकी भर्ती होगी और भजन अखण्ड होगा। यदि भजन-ध्यान, कीर्तन-सत्संग तो हुआ भगवान्‌का

भजन, उधर और व्यवहार—व्यापार हुआ हमारा काम इधर तो यह अखण्ड भजन नहीं होगा। सब काम भगवान्‌का हो।

तदर्थं कर्म कौन्तेय........................... ॥ (गीता ३। ९)

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥ (गीता १२। १०)

भगवान्‌के लिये कर्म करते हैं, प्रभुका ही काम करते हैं तो भजन होगा सभी ओर तथा जहाँ काम छूटेगा, भगवान्‌में मन लगेगा। जैसे रुपयोंके लिये व्यापार करता है तो जहाँ दूकान बंद किया कि चट रुपयोंका चिन्तन होता है, रुपयोंका विचार होता है, रुपयोंकी गिनती होती है। दूकान बंद हो जाती है, बाजार बंद हो जाती है, फिर भी दीपक जलाकर बैठे हैं। क्या करते हैं? रोकड़ जोड़ते हैं। अब रोकड़ क्यों जोड़ते हो? तो कहता है—व्यापार किसलिये किया था? जिसके लिये किया था उसीमें वृत्ति लगती है। इसी प्रकार गृहस्थका काम किसलिये किया? प्रभु-प्राप्तिके लिये। तो जहाँ काम छूटा कि मन प्रभुमें लग जायगा, चट लग जायगा। व्यापार-कार्य आरम्भ करो तो रुपये कैसे पैदा हों—यह ध्यान रहेगा, चाहे रुपयोंकी याद रहे या न रहे, पर रुपयोंके लिये काम है। अतः रुपयोंकी अखण्ड स्मृति, रुपयोंका ध्येय अखण्ड रहेगा। वैसे ही यदि प्रभुके लिये ही भजन-ध्यान है और प्रभुके लिये गृहस्थाश्रमका काम है तो सब कार्योंमें अखण्डपना है। जो यह अखण्डपना पकड़नेवाला है वह 'साधक' होता है, अखण्डपना रखना 'साधन' होता है और उससे जो अखण्डकी प्राप्ति है वह 'साध्य' होती है। फिर आपसे-आप ये सब हो जायँगे।

इस प्रकार 'हम भगवान्‌के हैं' यह कैसे समझें और 'अखण्ड भजन कैसे हो'—इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर हो गया!

❑ ❑

सबका कल्याण कैसे हो?

प्रश्न—सबका कल्याण कैसे हो?

उत्तर—ऐसा मनमें आता है कि मैं जो बात कहता हूँ, इसको आप और हम सब करें तो सबका कल्याण हो जाय। सबसे पहले तो हमारा यह उद्देश्य हो कि हमें अपना उद्धार करना है। हमारी यह एक ही इच्छा है, एक ही माँग है, जरूरत है, आवश्यकता है। कहावत भी है।

एकै साधै सब सधै, सब साधे सब जाय।

—एकके सिद्ध करनेसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं और सब कामोंको सिद्ध करना चाहें तो कोई-सा भी सिद्ध नहीं होता। अतः सबसे पहली आवश्यकता तो इस बातकी है कि सब ओरसे वृत्तियोंको हटाकर एक अपने कल्याणकी ओर ही कर लिया जाय। अब इस उद्देश्यके अनुसार निरन्तर साधन होना चाहिये। उस निरन्तरताके लिये विचार करना है।

हमारे सामने ये चीजें आती हैं—काम-धंधा, समय, व्यक्ति, वस्तु आदि-आदि। भाव यह कि हमारे सामने अनेक तरहके काम-धंधे कर्तव्यरूपसे आते हैं और एक हमारे पास है समय (वक्त) यानी हमें जो रात-दिन, महीना-वर्ष आदिके रूपमें आयु मिली हुई है। तीसरी हमारे सामने माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी आदि व्यक्तियाँ आती हैं। चौथी आती हैं धन, मकान आदि वस्तुएँ। इनके लिये हमें अलग-अलग क्रिया करनी पड़ती है। कभी ऐसा होता है कि अभी सत्संगका समय है सत्संग करो, अभी समय भोजनका हो गया तो भोजन कर लो, अब आरामका समय है, आराम कर लो, अब पुस्तक

पढ़ना है तो यह कर लो। इसी प्रकार जीविकाका काम है, रसोईका काम करना है, बाल-बच्चोंके पालन-पोषणका काम होता है, सोनेका काम होता है, शारीरिक शुद्धिका काम है, गंगास्नान आदिका काम होता है। ऐसे अलग-अलग धंधे सामने आते हैं, वे समय-समयपर आते हैं। अतः कामका विभाग होगा और समयका विभाग होगा। ऐसे ही व्यक्तियोंका और वस्तुओंका भी विभाग होगा कि ये हमारी हैं और ये हमारी नहीं हैं। किंतु ये जो अलग-अलग हैं, इन सबको एक कर देना तो हमारे वशकी बात नहीं है और उचित भी नहीं है। तब फिर उद्देश्य एक कैसे हो? तो हम विचारसे इस अलग-अलगपनेको मिटा दें। यह कैसे हो? वस्तुएँ भी अलग-अलग रहेंगी, व्यक्तियाँ भी अलग-अलग रहेंगी, उनका उपयोग भी अलग-अलग होगा, समय भी अलग-अलग रहेगा और काम-धंधा भी अलग-अलग रहेगा ही। यह रहना ही चाहिये। यह रहना कोई अन्याय नहीं है। तब हम एक साधन क्या और कैसे करें? क्योंकि हमारा उद्देश्य एक होता है तो वस्तुएँ इतनी सामने आ जाती हैं। हमें कुटुम्ब-पालनके लिये धन भी कमाना है, अपने परिवारके लिये वस्तुएँ भी लानी हैं, वक्तपर आराम भी करना है, सोना भी है, खाना-पीना भी है। यह सब अलग-अलग होगा। तब फिर एक उद्देश्य कैसे हो? यह प्रश्न आता है।

इसमें एक खास बात समझनेकी है। हम अलग-अलग काम किसलिये करते हैं? वह 'लिये'—उद्देश्य हमारे अनेक हो जाते हैं, तब हम फँसते हैं। कभी हमारा उद्देश्य विद्या हो जाती है, कभी यश हो जाता है, कभी धन हो जाता है, कभी मान-बड़ाई और स्वास्थ्य उद्देश्य हो जाता है।

कभी भगवत्प्राप्ति उद्देश्य हो जाता है, कभी भजन-ध्यान करना उद्देश्य होता है। ऐसा होनेसे हम साधन नहीं कर सकते। **'सब साधे सब जाय'**—कोई-सा भी काम सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिये हमारा भाव एक ही होना चाहिये कि हम सभी काम करेंगे और करेंगे प्रभुकी प्रीतिके लिये— भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये। सोकर उठनेपर यह सोचें कि अब काम क्या करना है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना है, भगवान्‌के लिये करना है और मैं भगवान्‌का ही काम कर रहा हूँ। मान लें वह काम आप हाथ-मुँह धोनेका कर रहे हैं। तो उसमें अनुभव यह होना चाहिये कि यह भगवान्‌का काम है। यदि आप कहें कि इसे हम भगवान्‌का काम कैसे मानें, हम तो अपना मुँह धोते हैं, अपने हाथ धोते हैं। तो समझना चाहिये आप अपने हाथ-मुँह धोते हैं—इससे सिद्ध हुआ कि आप अपनेको स्वयं अपना मानते हैं, भगवान्‌का नहीं मानते। अतः इस प्रकार अपनेको भगवान्‌का नहीं माननेसे उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होगी। तो क्या होगा? बन्धन होगा, और क्या होगा? जो होता आया है, वही होगा। प्रश्न होता है कि इस शरीरको भगवान्‌का कैसे मान लें? इसका उत्तर यह है—जब हम भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं और हम भगवान्‌के हैं तो हमारा शरीर भी भगवान्‌का है। हम हाथ धोनेके समय यह समझें कि भगवान्‌की अनन्त सृष्टिमें यह भी उनका एक छोटा-सा क्षुद्र अंश है। जैसे छोटे-से-छोटा रज (बालू)-का एक कण भी पृथ्वीसे अलग नहीं है, ऐसे ही एक शरीर यह है। बहुत छोटा है अनन्त ब्रह्माण्डमें। परंतु यह भी है भगवान्‌का। अतः यह अनुभव होना चाहिये कि मैं मुँह

धो रहा हूँ, यह भगवान्‌का काम कर रहा हूँ; हाथ धो रहा हूँ, यह भगवान्‌का काम कर रहा हूँ। यह मैं बहुत महत्त्वकी बात समझनेके लिये कहता हूँ, हँसी-दिल्लगीकी बात नहीं है। आप टट्टी जा रहे हैं, पेशाब कर रहे हैं—उसमें भी यह अनुभव होना चाहिये कि मैं भगवान्‌का काम कर रहा हूँ। स्वतः भीतरसे ही यह वृत्ति रहनी चाहिये। यह शरीर जब भगवान्‌का है, तब इसको साफ करना क्या भगवान्‌का काम नहीं है? हम किसीके घरकी टट्टी साफ करते हैं तो क्या उस घरके मालिकका काम नहीं कर रहे हैं? उसमें झाड़ू लगाते हैं तो उस घरका जो मालिक है, उसीका तो काम कर रहे हैं। इसी प्रकार जब यह शरीर भगवान्‌का है तो इससे टट्टी-पेशाब करके इसको साफ करना भी भगवान्‌का ही काम करना है। ऐसे ही स्नान कर रहे हैं—यह भी भगवान्‌का काम कर रहे हैं। कपड़ा धो रहे हैं, यह भगवान्‌का काम कर रहे हैं। अब रसोई बनाते हैं तो भगवान्‌का काम करते हैं। भोजन करते हैं तो यह भी भगवान्‌का काम करते हैं। ऐसी कोई क्रिया न हो, जो क्रिया भगवान्‌की न होती हो। यदि हमें यह अनुभव न हो कि प्रत्येक काम हम भगवान्‌का ही कर रहे हैं तो हम इसे मानना शुरू कर दें कि हम प्रत्येक काम भगवान्‌का ही कर रहे हैं।

जैसे सभी काम भगवान्‌के हैं, वैसे ही सब समय भी तो भगवान्‌का ही है। यह समय तो भगवद्भजनका है और यह समय अभी काम-धंधेका है—यह विभाग हम न करें। जब भगवान्‌के भजन करनेका काम भी भगवान्‌का है और यह रसोई बनानेका काम भी भगवान्‌का है, तब

यह सब-का-सब समय भी भगवान्‌का ही हुआ। अतः कार्य-विभाग भी नहीं रहा और समय-विभाग भी नहीं रहा। साधक कभी यह समय-विभाग न करे कि यह समय तो भजनका है और यह भजनका नहीं है। हाँ, भजनके रूप अलग-अलग हैं। उस समय नाम-जप, ध्यान आदि भजन था; अब रसोई बनाना भजन है। विचार करें, भजन नाम किसका है? भगवान्‌की सेवाका। जब भगवान्‌के लिये काम कर रहे हैं तो वह सेवा ही तो भजन है; अतः भगवान्‌का काम भजन है ही। अब भोजन करना भी भगवान्‌का भजन है। यह समय भी भगवान्‌का है। इसलिये यह नहीं सोचना चाहिये कि भोजन करनेका समय भगवान्‌का समय नहीं है। ऐसे ही काम-धंधा करते समय यह अनुभव हो कि सब काम भगवान्‌का है, तो सब-का-सब समय भगवान्‌का हो गया।

अब आप कहें कि हम सोते हैं तो क्या सोनेका काम भी भगवान्‌का है और क्या सोनेका समय भी भगवान्‌का है? अवश्य। यह कैसे? जब आप सोयें, तब यह बात काममें लानेकी है। यह बहुत बढ़िया बात जान पड़ती है। सोयें तब हम नींद लेनेके लिये, आरामके लिये न सोयें। तो किसलिये सोयें? इतनी देर बैठे हुए, चलते-फिरते हुए काम करते थे भगवान्‌का। अब छः या पाँच घंटा लेटकर भगवान्‌का भजन करना है; क्योंकि यह शरीर भगवान्‌का है। इसे चलाना-फिराना भी इसका काम है, काम-धंधा करना भी इसका काम है और इसे लंबा डालकर थोड़ा आराम देना भी काम इसीका है। किंतु इसका होते हुए भी हमें करना भगवान्‌का काम है। सोकर—नींद लेकर

हमें भगवान्‌का भजन करना है, आराम नहीं करना है, सुख नहीं लेना है। ऐसा विचार करते सो जायँ। सोते समय हमें नींद न आ जाय, तबतक भगवान्‌के चरणोंमें पड़े रहें, भगवान्‌का चिन्तन होता रहे, यह अनुभव करते रहें कि हमपर भगवान्‌का कृपामय हाथ है, कृपादृष्टि है। जैसे, माँ अपने बच्चेको गोदमें लिये बैठी है, बालक उसके चरणोंमें पड़ा है तो माँकी उसपर कृपा है, वैसे ही मैं भगवान्‌के चरणोंमें पड़ा हूँ, भगवान्‌की मुझपर कृपा है, भगवान् मुझे कृपादृष्टिसे देख रहे हैं, मेरे सिरपर भगवान्‌का हाथ है। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उनका नाम लेते रहें। अब यह लेटनेका समय भजन हो गया। ऐसा करते हुए नींद आ गयी तो आ गयी। नींद लेनेकी चिन्ता नहीं कि नींद नहीं आयी। अपने तो नींद लेनेसे मतलब नहीं है; भगवान्‌के चरणोंमें पड़े रहनेसे मतलब है। हम प्रभुके हैं। नींद आ गयी तो प्रभुका ही नींदरूपी काम कर रहे हैं। नींद नहीं आती तो भी भगवान्‌का ही चिन्तनरूपी काम कर रहे हैं।

इस प्रकार सब-का-सब काम-धंधा भगवान्‌का है और सब-का-सब समय भगवान्‌का। अब रह गयीं व्यक्तियाँ। ये जो हमारे भाई-बन्धु, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी, प्रेमी-सम्बन्धी हैं—ये सब व्यक्तियाँ हैं। ये भी भगवान्‌के हैं। ये भगवान्‌के हैं तो भगवान्‌के जनोंकी सेवा कैसे करनी है? जैसे श्रेष्ठ बहू अपनी सासकी सेवा करती है, इसी प्रकार सासको अपनी बहूके प्रति कर्तव्य-पालन करना है यानी उसे सुख देना है, अपना सुख लेना नहीं है, अपना सुख लेना तो हमारा उद्देश्य नहीं है, अपना सुख न लेकर

उसको सुख कैसे पहुँचाना है? माता सीताको और कौसल्या अम्बाको याद कर लो। माँ कौसल्या तो यह कहती हैं कि मैंने दीपककी बत्ती भी ठीक करनेके लिये सीताको कभी नहीं कहा और भूमिपर, जो कठोर है, पैर नहीं रखने दिया। ऐसा तो माता कौसल्याने किया और सीता कहती हैं—मैं बड़ी अभागिनी हूँ कि मैंने आपकी सेवा नहीं की। दोनोंको पश्चात्ताप इसीका है। बहूको यह विचार नहीं हुआ कि सासने मुझे सुख नहीं दिया और सासको यह विचार नहीं कि बहूने मेरा धंधा नहीं किया। विचार यही है कि प्रभुका काम करना है। अतः इसकी सेवा कर देना है। जैसे वह प्रसन्न रहे, उसका हित हो, वैसे कर दे और अनुकूल बननेकी भावना रखे।

इसी तरह जितने भी कुटुम्बी हैं, सभी भगवान्‌के हैं। अब विचार करें, उनमें हमें दो विभाग जान पड़ते हैं कि ये तो हमारे कुटुम्बी हैं, हमारे सम्प्रदायके हैं और ये हमारे नहीं हैं। ये हमारे कुटुम्बी हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि इस कुटुम्बकी सेवा करना मेरा पहला कर्तव्य —धर्म है; क्योंकि इस कुटुम्बका मैं ऋणी हूँ, इसलिये इसका ऋण पहले चुकाना है और जो हमारे नहीं जान पड़ते, समय-समयपर उनकी भी सेवा करनी है। यानी उनकी सेवा करनेकी अधिक आवश्यकता होनेपर समय निकालकर पहले उनकी सेवा करे। सेवा क्यों करनी है? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये; क्योंकि ये भगवान्‌के हैं। 'ये हमारे हैं'—इसका तात्पर्य होता है कि इनकी सेवा विशेषतासे कर देनी है; क्योंकि वे हमसे विशेषतासे सेवा चाहते हैं। अतः उनकी सेवा पहले कर दो और विशेषतासे कर दो।

परंतु मानो यह कि ये भगवान्‌के हैं, मेरे नहीं हैं। इनमें जो 'मेरापन' प्रतीत होता है, इसका अर्थ यह है कि हमें इनको सुख पहुँचाना है, इसलिये ये हमारे कुटुम्बी हैं, यह भावना सदा जाग्रत् रखे।

अब अन्तमें रहीं वस्तुएँ। वस्तुओंका उपयोग अलग-अलग होगा। भोजनकी थाली-गिलासका उपयोग अलग होगा, लिखनेकी कलमका उपयोग अलग होगा। वस्तुएँ अलग-अलग काममें आती हैं। यह अलग-अलग उपयोग किसलिये है? भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये। इनको भगवान्‌की सेवामें लेना है। ये अपनी और ये दूसरेकी—भगवान्‌के नाते तो यह विभाग है नहीं। किंतु जो हमारी कहलाती है, उस अपनी वस्तुसे तो पहले काम लेना है। इस तरह इन वस्तुओंसे प्रभुकी और प्रभुके जनोंकी सेवा करनी है।

तात्पर्य क्या निकला? यही कि कोई-सा भी काम भगवान्‌का न हो—ऐसा नहीं। कोई-सा भी क्षण भगवान्‌का न हो, ऐसा नहीं। कोई-सी भी व्यक्ति भगवान्‌की न हो, ऐसा नहीं और कोई-सी भी वस्तु भगवान्‌की न हो, ऐसा नहीं। अब बताइये, निरन्तर भजनके सिवा और हुआ क्या। स्वतः निरन्तर भजन—निरन्तर साधन हो जायगा।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। (गीता ८।७)

सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर, युध्य च—यहाँ '**युध्य च**' कहनेका अर्थ है—समय-समयपर जो आवश्यक काम आ पड़े वह करना, परंतु करना भगवान्‌की आज्ञासे और उनकी प्रसन्नताके लिये। अर्जुनने और क्या किया? जब वे कर्णको मारने लगे तब कर्णने कहा—'अर्जुन! तुम अन्याय करते हो।' भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! कर्णको बाण मार दो।' अर्जुन

बोले—'हमें न्याय-अन्याय कुछ नहीं देखना है, हमें तो प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। प्रभुकी आज्ञा है—इसे मार दो।'

किंतु हमलोगोंके सामने प्रत्यक्षरूपसे प्रभु हैं नहीं तो भगवान्‌की वाणी देख लो और हृदयमें टटोलकर देख लो कि हम ऐसा आचरण क्या दूसरोंसे चाहते हैं। दूसरोंसे नहीं चाहते तो वैसा मत करो। साक्षात् भगवान् आज्ञा दें तो न्याय-अन्यायको भी देखनेकी जिम्मेवारी हमपर नहीं रही। भगवान् सामने प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भगवान्‌की आज्ञा—गीतादि ग्रन्थ हैं। उनमें देख लो, उनके अनुसार न्याय करो, अन्याय मत करो और उनसे समझमें न आये तो घबराओ मत, किंतु भाव शुद्ध रखो, फिर समझमें आ जायगी।

एक बाबाजी थे। कहीं जा रहे थे नौकामें बैठकर। नौकामें और भी बहुत लोग थे। संयोगसे नौका बीचमें बह गयी। ज्यों ही वह नौका जोरसे बही, मल्लाहने कहा—'अपने-अपने इष्टको याद करो, अब नौका हमारे हाथमें नहीं रही। प्रवाह जोरसे आ रहा है और आगे भँवर पड़ता है, शायद डूब जाय। अतः प्रभुको याद करो।' यह सुनकर कई तो रोने लगे, कई भगवान्‌को याद करने लगे। बाबाजी भी बैठे थे। पासमें था कमण्डलु। उन्होंने ***'जय सियाराम जय जय सियाराम, जय सियाराम जय जय सियाराम'*** बोलना शुरू कर दिया और कमण्डलुसे पानी भर-भरकर नौकामें गिराने लगे। लोगोंने कहा—'यह क्या करते हैं?' पर कौन सुने! वे तो नदीसे पानी नौकामें भरते रहे और ***'जय सियाराम जय जय सियाराम'*** कहते रहे। कुछ ही देरमें नौका घूमकर ठीक प्रवाहमें आ गयी, जहाँ नाविकका वश चलता था। तब नाविकने कहा—

'अब घबरानेकी बात नहीं रही, किनारा निकट ही है।' यह सुनकर बाबाजी नौकासे जलको बाहर फेंकने लगे और वैसे ही *'जय सियाराम जय जय सियाराम.....'* कहने लगे। लोग बोले—'तुम पागल हो क्या? ऐसे-ऐसे काम करते हो?' बाबाजी—'क्या बात है भाई?' लोग—'तुमको दया नहीं आती? साधु बने हो। वेष तो तुम्हारा साधुका और काम ऐसा मूर्खके-जैसा करते हो? लोग डूब जाते तब?' बाबाजी—'दया तो तब आती जब मैं अलग होता। मैं तो साधु ही रहा, मूर्खका काम कैसे किया जाय?' लोग—'जब नौका बह गयी तब तो तुम पानी नौकाके भीतर भरने लगे और जब नौका भँवरसे निकलने लगी तब पानी वापस बाहर निकालने लगे। उलटा काम करते हो?' बाबाजी—'हम तो उलटा नहीं सीधा ही करते हैं। उलटा कैसे हुआ?' लोग—'सीधा कैसे हुआ?' बाबाजी—'सीधा ऐसे कि हम तो पूरा जानते नहीं। मैंने समझा कि भगवान्‌को नौका डुबोनी है। उनकी ऐसी मर्जी है तो अपने भी इसमें मदद करो और जब नौका प्रवाहसे निकल गयी तो समझा कि नौका तो उन्हें डुबोनी नहीं है, तब हमें तो उनकी इच्छाके अनुसार करना है—यह सोचकर पानी नौकासे बाहर फेंकने लगे। साधु ही हो गये तब हमें हमारे जीने-मरनेसे तो मतलब नहीं है, भगवान्‌की मर्जीमें मर्जी मिलाना है। पूरी जानते हैं नहीं। पहले यह जान लेते कि भगवान् खेल ही करते हैं, उन्हें नौका डुबोनी नहीं है तो हम उसमें पानी नहीं भरते। पर उस समय मनमें यह बात समझमें नहीं आयी। हमने यही समझा था कि नौका डुबोनी है, यही इशारा है।'

यह शरणागत भक्तका लक्षण है। यह तो उन संतोंने कर दिया; पर आपलोगोंसे यह कहना है कि कहीं नौका डूबने लगे तो उसमें पानी तो नहीं भरना, परंतु रोना बिलकुल नहीं। यही समझना कि बहुत ठीक है, बड़ी मौजकी, बड़े आनन्दकी बात है; इसमें भी कोई छिपा हुआ मंगल है। हमने ऐसी भी एक बात सुनी है। एक संतोंका आश्रम है, उसी आश्रमकी बात कई वर्षों पहले सुनी है। वहाँके महन्त थे, बड़े अच्छे थे, बहुत विद्वान् और भगवान्के बड़े भक्त थे। एक बार गंगाजी बहुत बढ़ गयीं। पहाड़से पानीका प्रवाह आया बहुत जोरसे। आश्रमके पीछे ऐसे बड़े जोरसे पानीका नाला आया कि मानो मकानको काटकर बहा ही देगा। उस समय जो वहाँके बड़े महन्त थे, उनका नाम याद नहीं रहा, बहुत खुश हो गये, प्रसन्न हो गये और गद्गद हो गये कि अब मैयाकी गोदमें जायँगे—मतलब, गंगाजीमें जायँगे। दूसरे जितने थे, घबरा रहे थे कि मकान बह जायगा और वे खुश हो रहे थे। हुआ क्या? पानीका नाला आया और साथमें पत्थर-ही-पत्थर आकर पत्थरोंका ढेर लग गया। तब पानी एक ओरसे निकलने लगा और मकान बच गया। बच गया तो बच गया। उन संतोंके हृदयमें तो यही भाव हुआ कि मैयाकी गोदमें जायँगे। विचार कीजिये, माँकी गोदमें बच्चेको आनन्द आता है कि दुःख होता है? उनको यही खुशी थी। प्रत्यक्ष बात तो डूबनेकी थी कि इतना पानीका प्रवाह बढ़ा आ रहा है; किंतु इन्हें खुशी हो रही है। इससे सिद्ध क्या हुआ? करनेमें तो भगवान्की आज्ञा, इशारेके अनुसार करना है और होनेमें हरदम प्रसन्न रहना

है। चाहे सुख आये चाहे दुःख, जो घटना घटे, उसमें खुश रहना है; क्योंकि जो होना है वह तो सब-का-सब भगवान्‌के हाथमें है और करना हमारे हाथमें है। अतः करना सब भगवान्‌की आज्ञासे। होनेके नामपर जो होये उसमें खुश हो कि वाह! वाह!! प्रभुकी बड़ी कृपा है। जो हो रहा है, उसमें यह नहीं देखना कि यह ठीक है, यह बेठीक है। बल्कि यह देखे कि यह कर कौन रहा है, यह किसके हुक्मसे, किसके इशारेसे हो रहा है। **'करी गोपालकी सब होइ।'**

जो दुःख आता है, दर्द होता है, उसमें भगवान्‌की विशेष कृपा है। दर्द, दुःख, प्रतिकूलता—वह पापोंका फल है कि पुण्यका? पापोंका फल मानते हैं तो फल भोगनेसे पाप रहेंगे कि नष्ट होंगे? एवं पाप नष्ट होना भगवान्‌की कृपा है या अकृपा है? शुद्धि हो रही है, भगवान् कृपा कर रहे हैं—ऐसा विचारकर मस्त होता रहे। ज्यों टीस चले, ज्यों पीड़ा हो, त्यों अनुभव हो कि भगवान्‌की बड़ी कृपा है। प्रभु बड़ी कृपा कर रहे हैं—पवित्र बना रहे हैं। सुनार सोनेको अपनाता है तो उसको खूब तपाता और पीटता है, खराबी-खराबी निकाल देता है। इसका अर्थ यह होता है कि अब वह अपनायेगा। इसी तरह प्रभुने हमको अपना लिया तो अब अपनी वस्तुको साफ कर रहे हैं, अतः अपनेको मस्त होना चाहिये।

अभिप्राय यह कि जो होता है, उसमें तो कोई अनिष्टकी सम्भावना है नहीं, उसमें तो प्रसन्नता लानी है; क्योंकि वह भगवान्‌के हाथमें है और जो हमें करना है, वह उसकी आज्ञासे करना है, उसकी आज्ञाके विरुद्ध नहीं करना है—

यह हमारा उद्देश्य है। इन दोके सिवा और कोई बात है नहीं—एक होना और दूसरा करना। तो फिर हमारा जीवन सब-का-सब साधनमय हो गया। अब हम सब समय मस्त रहें। किंतु हम मस्त नहीं रहते, तभी तो कहना पड़ता है—इधर लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य हो तो ऐसे हो सकता है।

इसलिये चौबीस घंटोंमें एक मिनट भी ऐसा नहीं, जिस समयमें साधन न होता हो। अब बताओ, कौन-सा समय ऐसा शेष रहा, जिसमें साधन न हो। सब समय साधन ही हो रहा है। और अब कौन-सी प्रवृत्ति, कौन-सी क्रिया है, जो भगवान्‌का भजन न हो। इससे '**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' हो जायगा। जब यह कहा है—

'यत्क्षणं यन्मुहूर्तं वा वासुदेवं न चिन्तयेत्।'

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

—तब अपनी विपत्ति तो दूर हो गयी। अब विपत्ति कहाँ रही? सब-का-सब समय भगवान्‌का, सब-का-सब काम भगवान्‌का, सब-की-सब वस्तुएँ भगवान्‌की, सब व्यक्तियाँ भगवान्‌की, सब-के-सब सम्बन्ध भगवान्‌के और हमारी कोई वस्तु है ही नहीं। मन भगवान्‌का, बुद्धि भगवान्‌की, शरीर भगवान्‌का, प्राण भगवान्‌के, सब भगवान्‌के हैं—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

—'आपकी वस्तु ही, प्रभो! आपके चरणोंमें समर्पित है ऐसे होकर मस्त होते रहें।

हमारी क्या है? हमारे तो भगवान् हैं और भगवान् हैं इसलिये आनन्द है। फिर मौज और मस्ती रहेगी ही।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द।

भगवान् और हम दो हैं। हमारा उनका बँटवारा हो गया। मौज-मौज हमारे हिस्से आ गयी और चिन्ता-चिन्ता भगवान्के। तुम चिन्ता नहीं करते, मैं क्यों करूँ! भगवान् करें। भगवान् बड़े हैं, बड़े चिन्ता किया करें। भक्त नरसीजीके पत्र आया, बहुत बड़ा चिट्ठा कि इतना-इतना सामान लाओ तो आना। पत्रमें ऊपर भगवान्का नाम लिखनेकी रिवाज अनादि कालसे चली आ रही है। पत्र पढ़ा तो ऊपर भगवान्का नाम लिखा ही था, नरसीजी नाचने लगे—

'पाती तो बाँच नरसी मगन भया।'

—लाखों-करोड़ोंकी वस्तु चाहिये। पत्रमें इतनी वस्तुएँ लिखी थीं कि उनकी बात पढ़-सुनकर नरसीजी नाचने लगे और खुश हो गये एवं गाने लगे—

ऊपर नाम लिख्यो सो तो मायरो भरसी।
नरसीलो तो बैठ्यो बैठ्यो भजन करसी॥

आपलोगोंके किसी कुटुम्बी, सम्बन्धीका कोई भी काम पत्रमें लिखा आता है तो पत्रमें ऊपर जिसका नाम होता है, उसीपर भार होता है, कहीं बालकोंपर भी कोई भार होता है? बालक तो यही सोचते हैं, विवाह है, अच्छी बात है, हम तो मौज करेंगे, मीठा-मीठा भोजन करेंगे। अरे! तुम तो मौज करोगे, पर पितापर कितना खर्चा होगा, पता है? पर उनको क्या चिन्ता?

कितनी मौज हो रही है! कोई नरसीजीसे पूछे—तुम किसके भरोसे जा रहे हो? भरोसा क्या? हमारे तो भगवान् भात भरेंगे। तुम भी चलो भैया! मीठा-मीठा भोजन

करोगे। यहाँ अपने कोई चिन्ता-फिक्र है? अपने तो मौज हो रही है।

चिन्ता दीनदयालको मो मन सदा अनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी रामदास गोविन्द॥

हम तो सबकी चिन्ता-फिक्रसे छूट गये। हमने तो प्रभुकी शरण ले ली। सब काम भगवान्‌का हो गया। मौज है। भगवान्‌के दरबारसे नीचे उतरे ही नहीं। ये जो छोटे-छोटे बालक—छोकरे होते हैं, उनमें कोई-कोई तो ऐसे होशियार हो जाते हैं कि माँ गोदसे नीचे रखे तो रोने लगते हैं। उन्हें बड़ी अच्छी युक्ति आ गयी। इसी तरह अपने तो भगवान्‌की गोदमें चढ़ा ही रहे, नीचे उतरे ही नहीं।

इसीलिये नारदजीने भक्तिसूत्रमें बताया है—

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

सम्पूर्ण आचरणोंको भगवान्‌के समर्पित कर दिया और भगवान्‌की विस्मृतिमें परम व्याकुलता—बड़ी घबराहट होती है; क्योंकि भगवान्‌ने गोदसे नीचे रख दिया। अतः यही निश्चय रखे कि 'हम तो गोदमें ही रहेंगे, नीचे उतरेंगे ही नहीं। अब तुम दुःख पाओ चाहे सुख पाओ। हम क्या करें?' बच्चा तो गोदमें ही रहेगा; भार लगे तो माँको लगे, बच्चा क्या करे। हम नीचे उतरेंगे ही नहीं, हम तो प्रभो! आपके चरणोंमें ही रहेंगे, आपकी गोदमें ही रहेंगे और मस्त रहेंगे। खूब मौज हो रही है। यहाँसे, सत्संगसे जाय तो खुशी-आनन्दमें ही जाय। क्या हो गया? क्या, क्या हो गया, मौज हो गयी। 'क्या' तो पीछे रह गया अर्थात् 'क्या' का अर्थ प्रश्न होता है, सो प्रश्न तो हमारे रहा ही नहीं। भगवान्‌के यहाँ ही हम रहते हैं। भगवान्‌का

ही काम करते हैं, भगवान्‌के ही दरबारमें रहते हैं। मौज-ही-मौज है। प्रभुके यहाँ आनन्द-ही-आनन्द है। खुशी किस बातकी है? तो दुःख ही किस बातका? चिन्ता किस बातकी? कोई है तो *'चिन्ता दीनदयालको'*। हम तो मौज करते हैं। बस, अभीसे ही मस्तीमें रहे। चले-फिरे, उठे-बैठे—सब समय मौज-ही-मौज है। उसके तो भगवच्चिन्तन ही होता है। फिर भगवान्‌का चिन्तन करना नहीं पड़ता। ऐसी मस्तीमें चिन्तन स्वतः होता है। इसीलिये ध्रुवजीने कहा है—

विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो।

आपको भूलें कैसे? आप भूले जायँ कैसे? कैसे भूलें, बताइये। इस जन्ममें माँ थोड़ा ही प्यार करती है। जब वह माँ भी याद रहती है, तब अनन्त जन्मोंसे प्यार करनेवाली माँ कैसे भूली जाय! सदा स्नेह रखनेवाले भगवान् भूले जायँ? हमारा काम तो उनके चरणोंमें पड़े रहना है, उनकी ओर मुँह करना है। हमको याद करते हैं स्वयं वे प्रभु। एक बात याद आ गयी। ध्यान देकर सुनें। हम भगवान्‌को याद नहीं करते तब भी भगवान् हमको याद करते हैं। इसका क्या पता? आप जिस स्थितिमें स्थित रहते हैं, उस स्थितिसे ऊबते हैं कि नहीं, तंग आते हैं कि नहीं? कुटुम्बसे, रुपये-पैसेसे, शरीरसे, काम-धन्धेसे तंग आते हैं न? क्यों आते हैं? भगवान् आपको याद करते हैं तब तंग आते हैं—भगवान् अपनी तरफ खींचते हैं तब उस स्थितिसे तंग आ जाते हैं। फिर भी हम उसे पकड़ लेते हैं। किंतु भगवान् ऐसी स्थिति रखना नहीं चाहते किसी जीवकी कि वह भोगोंमें, रुपयोंमें, कुटुम्बमें फँसे। अर्थात्

ऐसी कोई स्थिति नहीं जहाँ ठोकर न लगे। ऐसी कोई स्थिति हो तो आप बतायें। ठोकर तभी लगती है, जब भगवान् हमें विशेषतासे याद करते हैं कि अरे! कहाँ भूल गया तू? मुझे याद कर। मुझको छोड़कर कहाँ भटकता है। पर हम फिर फँसते हैं। भगवान् यदि हमें याद नहीं करते तो हमें सुखकी इच्छा कभी नहीं रहती। परम सुखस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप तो भगवान् ही हैं। हमें भगवान्‌की इच्छा होती है, यह भगवान् हमें याद करते हैं, अपनी ओर खींचते हैं, पर वे जबरदस्ती नहीं करते।

सार बात यह है कि सभी काम भगवान्‌के हैं, सभी समय भगवान्‌का है, सभी व्यक्तियाँ भगवान्‌की हैं और सभी वस्तुएँ भगवान्‌की हैं। कोई भी क्रिया करते समय यह अनुभव निरन्तर होता रहे तो साधन निरन्तर हो सकता है, जिससे सबका कल्याण है ही।

❑ ❑

उपासना शब्दका अर्थ एवं उसका स्वरूप

'उपासना' शब्दका अर्थ है—पासमें बैठना, उप+आसना; उपासना दो शब्दोंसे बनता है। उपासनाका विषय कुछ भी हो सकता है—जैसे धन, मान, लोक-परलोकको कोई भी वस्तु। जो जिस वस्तुको चाहता है, उसका मन उस वस्तुके पास रहता है, उसीकी उपासना होती है; परंतु वास्तवमें उपासना होनी चाहिये सत्य-तत्त्वकी। प्रकृतिके कार्यकी उपासना न करके परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।

गीतामें तीन प्रकारकी उपासना कही है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ (१३।२४)

'कितने लोग ध्यानयोगके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करते हैं, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा।' गीतामें उपासनाके तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग। सत्य-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये जो किया जाय उसे 'उपासना' कहते हैं। यह सब परमात्मा-ही-परमात्मा है। वही आदि-मध्य-अन्तमें है—'**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**' (गीता ७।७)। (सूत्रमें मणिगणकी तरह सम्पूर्ण चराचर विश्व मुझमें ही ओत-प्रोत है।) सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही है। सत्य-तत्त्वकी ऐसी उपासना भक्तियोगकी पद्धतिसे उपासना है। सांख्ययोगकी उपासना असत्का त्याग करके, '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**' (गीता २।१६) 'असत्की सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं।'

सत्‌की उपासना की जाती है। कर्मयोगमें भी सत्‌की उपासना है। भगवान्‌ने कहा है—'**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**' (२।४०) 'इसमें कृत प्रयत्नका नाश नहीं होता।' गीताके १७ वें अध्यायके दो श्लोकों (२६-२७)-में 'सत्' शब्दकी पाँच व्याख्या की है—'**सद्भावे साधुभावे च**', '**प्रशस्ते कर्मणि तथा**', '**यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः**' और '**कर्म चैव तदर्थीयम्**।'

'सत्' कहते हैं—सत्ताका होना, जिसका कभी नाश नहीं हो, वह सर्वत्र विद्यमान है। यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परंतु उसके आश्रयसे यह संसार प्रत्यक्ष नाशवान् होनेपर भी सत्य दीखता है। गोस्वामीजीने (मानस, बालकाण्डमें) कहा है कि—

'**जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥**'

यह संसार सत्य दीखता तो है पर सत्य है नहीं। प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्तिके मूलमें एक नित्य तत्त्व होता है, जिसके आश्रयसे पदार्थ उत्पन्न होता है। उसे प्रकाश देनेकी जरूरत नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है। उसकी सत्यतासे ही सब अनित्य संसार दीख रहा है। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' (मु० उ० २।२।१०) 'उसीके प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।' सांख्ययोगमें असत्‌को छोड़कर सत्‌का ही चिन्तन-ध्यान होता है। असली उपासना उसी तत्त्वके लिये साधनामात्र है।

बाल्यावस्थामें जो शरीर था, वह बदल गया। साथी, सामग्री, भाव, उद्देश्य, इन्द्रियाँ सब बदल गयीं, पर मैं तो वही हूँ, यह नहीं बदला। मैं वही हूँ, यह सत्य है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति सब उस सत्‌के अन्तर्गत हैं। सत्-तत्त्व ज्यों-का-त्यों है। हमने असत्‌में मान्यता कर ली है— '**कर्ताहमिति**

व्यापारमें जिस तरह चीजें आती हैं और बिक जाती हैं, पर केवल हानि-लाभ हमारे पास रहता है, वैसे ही ममता करनेसे केवल पाप-ताप ही हाथ लगता है। मुनाफामें शोक-चिन्ता रहेगी। जवान लड़का मर जाता है, वह लड़का न पहले था, न अब है, फिर चिन्ता क्यों करते हैं? चिन्ता, शोक आदि जो करते हैं बस यही ममताका मुनाफा है।

एक समय श्रद्धेय सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके सामने किसी भाईने प्रश्न किया कि 'जब सब परमात्मा ही हैं, तब हम जो पाप करते हैं, वे भी परमात्माके द्वारा ही होते हैं। '**ये चैव सात्त्विका भावा**' (गीता ७। १२) 'यह भी परमात्माकी ही उपासना हुई और रावण, कुम्भकर्ण आदिके इतना अन्याय करनेपर भी उन्हें उसी परमात्माकी प्राप्ति हुई, तब हम कर्तव्य करके क्यों बन्धनमें पड़ें!' उत्तरमें श्रद्धेय श्रीसेठजीने कहा, 'हम जैसी उपासना करेंगे, वैसे ही उपास्य मिलेंगे' वैसी उपासना करनेपर दुःखमय भगवान् मिलेंगे! क्या दुःख भगवान् नहीं हैं! जैसा स्वरूप चाहते हैं, वैसी उपासना कीजिये। यदि रावण आदिकी तरह करते हैं तो वैसी शक्ति चाहिये कि भगवान्‌के सिवा दूसरोंसे मरे नहीं, तब तो कल्याण हो जायगा। पर यदि कोई बीचमें ही मार देगा तो क्या दशा होगी? उद्धार होनेसे वंचित रह जायँगे। '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।**' (गीता ६। ४४) 'योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको पार कर जाता है' इस सच्चे मार्गमें धोखा नहीं है। सब कुछ परमात्मा ही है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई साकार चाहता है कोई निराकार। साकारमें भी कोई विष्णु, राम, कृष्ण, शक्ति, शिव आदिको चाहता है। जिस रूपमें जिसकी पूज्य भावना, आदर और रुचि होगी, उसकी उपासनासे उसको उसी स्वरूपकी प्राप्ति

होगी। फिर भगवान्‌की कृपासे उसको वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति होगी जो मन-वाणीसे अतीत है।

कर्मयोगमें भी सत्‌की ही उपासना है। इसमें फल-आसक्तिका त्याग होना चाहिये। लोग कहते हैं कि 'ममता-आसक्ति मिटती नहीं।' इस विषयमें यह विचारना चाहिये कि आसक्ति सदा एक-सी ही रहती है क्या? पहले जो माँका स्नेह होता है, पीछे वह वैसा ही रहता है क्या? युवावस्थामें स्त्रीमें जो आकर्षण रहता है वृद्धावस्थामें वैसा है क्या? किसी भी वस्तुके साथ देख लें, मकान बनवाया या गहना-कपड़ा बनवाया, दो चार दिन जो आनन्द आया, फिर वह आनन्द वैसा ही रहता है क्या? अब तनिक विचार करें, संसारका कोई भी पदार्थ रहनेवाला नहीं है। फिर यह स्नेह, ममता, आसक्ति इन पदार्थोंमें न करके भगवान्‌से कर लेते तो कृतकृत्य हो जाते।

संसारके सारे पदार्थ नाशवान् हैं। इनसे कुछ मिलनेवाला नहीं है। केवल अन्तःकरण मलिन होगा, अशान्ति मिलेगी। माँ-बेटेका बड़ा स्नेह है, लड़का इस समय माताके अनुकूल आचरण करता है, पर बड़ा हो जानेपर जब वह पत्नीके कहनेके अनुसार माताके प्रतिकूल चलने लगता है, तब माताकी ममता वैसी नहीं रह सकती, वह स्वतः टूट जाती है। ममता उस कच्चे धागेके समान है जो थोड़ा-सा विरुद्ध पड़नेपर टूट जाता है। इसलिये ममताका त्याग कठिन नहीं है; ममताको ग्रहण कर रखना कठिन है। यह सदा एक रस नहीं रहती, बदलती रहती है। इससे सिद्ध है कि प्रीति असली जगह नहीं हुई। पाँच वर्षका बालक अपनी माँको खोजता है। दूसरी माताएँ बैठी हैं, पूछनेपर वे अपनेको माँ कहती हैं, किंतु बालक उनमेंसे किसीको माँ नहीं कहता। उसकी माँ होती तो वह

उसकी गोदमें चला जाता '**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। इसलिये गीतामें कहा है '**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**' (गीता ६।२२) 'जिसको पाकर फिर दूसरी वस्तुको उससे अधिक नहीं मानता।' कर्मयोगमें फलकी कामनाका त्याग है। निष्कामभावका तात्पर्य है '**कर्म चैव तदर्थीयम्**' (गीता १७।२७), '**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**', '**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य**' (गीता २।४०) आदि। ममता नहीं छूटनेसे आगे परमात्माकी ओर चलनेमें कठिनता है। माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाईमें अधिक स्नेह है, ममता है, किंतु जरा-सी अनुकूलतामें बाधा पड़ी, स्वार्थको झटका लगा कि वह ममता नहीं रहती है। इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

वास्तवमें लोग ममताका त्याग करना नहीं चाहते हैं; प्रत्युत नित्य नयी-नयी ममता-कामना पकड़े लिये जा रहे हैं। यदि ममताका त्याग कठिन मालूम देता है तो नया सम्बन्ध जोड़ना छोड़ दें। घर छोड़कर साधु हो गये और साधु हो जानेपर चेला-चेलीसे ममताका सम्बन्ध जोड़ने लगे। ममताका सम्बन्ध उस एकके साथ जोड़ो, जो सत्य है; जिसके सिवा अपना और कोई नहीं है। संत-महात्माओंकी महिमा इस बातमें है कि वे सबसे सम्बन्ध छुड़ाकर एकमात्र परम पिता परमेश्वरमें लगा दें। वे भटकते जीवको सत्यके साथ जोड़ दें—तेरा वह है जो यह कह रहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। उसीके नाते सबकी सेवा करो, आदर-सत्कार करो। स्त्री केवल पतिके नाते ही पतिके परिवारवालोंकी सेवा करती है; इसी तरह उस भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करना है। '**नातो नेह**

राम सों मनियत।' भगवान्‌से अपनापन कर लेना है, यही 'उपासना' है, भगवान्‌के 'पास बैठना' है।

कर्मयोगके अनुसार ममता, आसक्ति, कामनाका त्यागकर अपने 'कर्तव्यके आचरणद्वारा' उपासना की जाती है। ज्ञान-योगके अनुसार 'परमात्माको जानकर' उपासना की जाती है। भक्तियोगके अनुसार 'भगवान्‌को मानकर' उपासना की जाती है। ज्ञानयोगके द्वारा जो प्राप्ति होती है, कर्मयोगके द्वारा भी उसीकी प्राप्ति होती है।

यात्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

(गीता ५।५)

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

(गीता ५।४)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है।' कर्मयोगमें भी प्रभुको मानकर उपासना होती है। संसारसे मन हटाकर चलना और भगवान्‌के पास बैठना उसकी उपासना है। थोड़ी देर जप कर लें, पाठ-पूजन कर लें—यह असली उपासना है क्या? असली उपासनाका तात्पर्य है, हर समय उसीमें लगन हो। जैसे परिवारमें हर समय मन लगा रहता है, वैसे ही हर समय चलते-फिरते परमात्मामें लगन होनी चाहिये। यही सच्ची उपासना है। इसकी सिद्धि अवश्य होती है। यह मनुष्य-शरीर इसीलिये मिला है। संसारके लिये मिला होता तो संसारकी सिद्धि हो जाती, किंतु सिद्धि नहीं हुई। अतः परमात्माकी

प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर है; उसीकी उपासना करनी चाहिये। उपासनाका प्रभाव छिपाये छिप नहीं सकता। किसीने कहा है—

भजन करे पातालमें प्रकट होय आकाश।
दाबी दूबी नहिं दबे कस्तूरीकी वास॥

जिसने परमात्माकी ओर चलना प्रारम्भ कर दिया अथवा जिसने परमात्माको प्राप्त कर लिया, उसका आचरण बदल जाता है। उसके शरीरमें, बल-बुद्धिमें अन्तर आ जाता है। उसके प्रभावसे वायुमण्डल वैसा ही बन जाता है, प्रकृति स्वयंको सफल मानती है। संसारकी चीजें उसके काममें आ जायँ तो अपनेको सफल मानती हैं।

❑ ❑

॥ श्रीहरि: ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)	1308	प्रेरक कहानियाँ
1675	सागरके मोती	1408	सब साधनोंका सार
1598	सत्संगके फूल	411	साधन और साध्य
1633	एक संतकी वसीयत	412	तात्त्विक प्रवचन
400	कल्याण-पथ	414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
401	मानसमें नाम-वन्दना	410	जीवनोपयोगी प्रवचन
605	जित देखूँ तित तू	822	अमृत-बिन्दु
406	भगवत्प्राप्ति सहज है	821	किसान और गाय
535	सुन्दर समाजका निर्माण	417	भगवन्नाम
1485	ज्ञानके दीप जले	416	जीवनका सत्य
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये	418	साधकोंके प्रति
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला	419	सत्संगकी विलक्षणता
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल	545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
403	जीवनका कर्तव्य	420	मातृशक्तिका घोर अपमान
436	कल्याणकारी प्रवचन	421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
405	नित्ययोगकी प्राप्ति	422	कर्मरहस्य
1093	आदर्श कहानियाँ	424	वासुदेवः सर्वम्
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	425	अच्छे बनो
408	भगवान्से अपनापन	426	सत्संगका प्रसाद
861	सत्संग-मुक्ताहार	1733	संत-समागम
860	मुक्तिमें सबका अधिकार	1019	सत्यकी खोज
409	वास्तविक सुख	1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	433	सहज साधना
1360	तू-ही-तू	444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
1434	एक नयी बात	435	आवश्यक शिक्षा
1440	परम पितासे प्रार्थना	1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
1441	संसारका असर कैसे छूटे?	515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......	438	दुर्गतिसे बचो
431	स्वाधीन कैसे बनें?	439	महापापसे बचो
702	यह विकास है या...	440	सच्चा गुरु कौन?
589	भगवान् और उनकी भक्ति	729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
434	शरणागति	745	भगवत्तत्त्व
770	अमरताकी ओर	632	सब जग ईश्वररूप है
432	एकै साधे सब सधै	447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा
427	गृहस्थमें कैसे रहें?		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	142	चेतावनी-पद-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
231	रामरक्षास्तोत्रम्	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
054	भजन-संग्रह		